❀ ॐ ❀

वेदान्त स्तोत्र संग्रह।

हिन्दी भाषा सहित।

(३२)
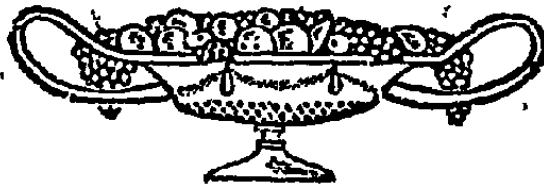
वेदान्त केसरी कार्यालय,

बेलनगंज—आगरा।

संवत् १९९०

द्वितीयावृत्ति १०००] [मूल्य ।।≈)

अनुक्रमणिका ।

वेदान्त स्तोत्र संग्रह।

१—आत्मपंचक।

शालिनी वृत्तम्।

नाहं देहो नेंद्रियाण्यंतरंगं
नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥ १ ॥

मैं देह नहीं हूँ, इन्द्रियां नहीं हूँ, भीतर रहने वाला मन नहीं हूँ, अहंकार, पांचों प्रकार के प्राण वर्ग नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ (किन्तु) स्त्री, पुत्र, खेत, धन आदिक से दूर नित्य साक्षी स्वरूप प्रत्यगात्मा शिव हूँ ॥१॥

भावार्थः—मैं देह नहीं हूँ क्योंकि देह पंच महाभूतों का बना हुआ है। मैं इन्द्रियां नहीं हूँ क्योंकि इन्द्रियां बुद्धिके सहारे कार्य करने वाली हैं। मैं अन्तःकरण स्वरूप मन भी नहीं हूं क्योंकि मन माया के सतोगुण का कार्य है। वैसे ही मैं अहंकार भी नहीं हूँ क्योंकि अहंकार देहाध्यास वाले अज्ञान का कार्य है। पांचों

प्राण और उपप्राण भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वे वायु के विकार हैं। बुद्धि द्वैत भाव में होती है इसलिये मैं बुद्धि भी नहीं हूँ। स्त्री मेरी नहीं है क्योंकि मैं पुरुष भाव से रहित हूँ। सब स्थानों पर मैं व्यापक हूँ इसलिये कोई मेरा पुत्र नहीं है। खेत या स्थान भी मेरा नहीं है क्योंकि मैं खेती करने वाला वा स्थान में टिकने वाला नहीं हूँ, मुझे धन से कुछ प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार प्रपंच रूप स्त्री, पुत्र, खेत और धन से दूर हूँ, अलग हूँ। मैं तो नित्य साक्षी हूँ, अपने आप ही आत्मस्वरूप हूं तथा मंगल स्वरूप हूँ ॥ १ ॥

रज्ज्वज्ञानाद्भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम् ॥ २ ॥

जैसे रस्सी के न जानने से रस्सी सर्प स्वरूप दिखाई देने लगती है, वैसे ही आत्मा के न जानने से आत्मा को जीव भाव भासने लगता है। जैसे किसी यथार्थ देखने वाले के बता देने से भ्रान्तिनाश होने पर सर्प के बदले रस्सी दीखने लगती है, इसी प्रकार सद्गुरु के वचनों द्वारा यथार्थ बोध होजाने से अब मैं जीव नहीं हूँ, किन्तु शिव हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—जब अन्धेरे स्थान में पड़ी हुई रस्सी कोई देखता है तो अन्धेरे के कारण और चित्त की चंचलता से यथार्थ रीति से रस्सी नहीं दिखाई देती, किन्तु रस्सी की आकृति में सर्प

दीख पड़ता है इसलिये भय होता है। जब कोई यथार्थ देखने वाला सर्प देखने वाले मनुष्य को बताता है कि जिसको तू सर्प मान रहा है वह सर्प नहीं है किन्तु रस्सी है, तब वह मनुष्य रस्सी का यथार्थ स्वरूप जानकर रस्सी को रस्सी देखने लगता है और उसका भय जाता रहता है। इसी प्रकार अपना प्रत्य-गात्मा जो वास्तविक शुद्ध स्वरूप और निर्विकार है, जिसमें संसार यानी कर्त्ता भोक्तापनेका अभावहै, उसके यथार्थ स्वरूप न जानने रूप अज्ञान से 'मैं जीव हूँ—मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ' ऐसा भाव होता है, जिसके कारण से जन्म मरण रूप भय उत्पन्न होता है। जब कोई ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु दया करके आत्मा का यथार्थ स्वरूप बता देता है तब आत्मा शुद्ध स्वरूप, कर्त्ता भोक्ता के अभिमान से रहित मालूम होता है। भ्रम दूर होने से "मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इत्यादि भय दूर होजाता है तब मैं जीव नहीं हूँ किन्तु कल्याण रूप आत्मा, शिव हूँ ऐसा जानता है॥ २॥

आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं
सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात्।
निद्रामोहात्स्वप्नवत्तन्न सत्यं
शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम्॥ ३॥

सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मामें जो यह असत्य विश्व भ्रांति करके दीखता है, सो नींद रूप मोह करके होने वाले स्वप्न के समान मिथ्या है, मैं तो शुद्ध, पूर्ण, नित्य एक शिव रूप हूँ॥ ३॥

भावार्थः—नामरूप जगत् में जो सत्यता मालूम होती है वह सत्यता ठीक नहीं है। यदि नामरूपात्मक जगत् सत्य होता तो रूपांतर वाला न होता। यह नामरूपात्मक जगत् जो आत्मा में भासता है उस जगत् का आत्मा में भासना—दीखना भ्रान्ति है। आत्मा सत्य यानी अस्ति रूप है, वह ज्ञानस्वरूप यानी चैतन्यस्वरूप है और वह आनन्दस्वरूप यानी प्रियस्वरूप है। उस अधिष्ठान में नामरूपात्मक जगत् अध्यस्त है। जैसे निद्रारूप दोष से उत्पन्न हुआ स्वप्न सत्य नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा के अज्ञान रूप मोहदोष से प्रतीत होने वाला नामरूपात्मक जगत् सत्य नहीं है। मैं जो आत्मस्वरूप हूँ सो शुद्ध हूँ, सब प्रकार से सब ओर से पूर्ण हूँ, नित्य एक ही प्रकार का हूं और एक ही अद्वैत स्वरूप, कल्याण स्वरूप शिव हूँ॥ ३॥

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः ।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्याऽस्ति नाहं-
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥ ४ ॥

मैं जन्मा नहीं हूं, वृद्ध नहीं हुआ हूं, तथा मैं नष्ट भी नहीं हुआ, ये धर्म तो प्राकृत देह के कहे हैं। कर्त्तापन आदिक धर्म चैतन्य आत्मा के नहीं हैं, वे तो अहंकार के धर्म हैं और मैं तो शिव रूप हूँ॥ ४॥

भावार्थः—जिसका जन्म होता है वही जन्मा हुआ होता है, मैं अजन्मा हूँ इसलिये मैं जन्मा नहीं हूँ। जन्मने वाला ही

युवान और वृद्ध होता है, मैं अजन्मा होने से वृद्ध नहीं हूं, न होने वाला हूं। जो उत्पन्न होता है वही नाश को प्राप्त होता है, जब मैं उत्पन्न ही नहीं हुआ तो नाश कैसे होगा ? इसलिये मैं नष्ट नहीं होता। ये सब धर्म अनात्म प्रकृतिके शरीर के हैं, मेरे नहीं हैं। कर्त्ताभोक्ताका जिसमें भाव है, ऐसा जो चैतन्य यानी प्राकृत जीव है वह मैं नहीं हूं। इस प्रकारका जीव भाव अहंकारको होता है। मैं अहंकार नहीं हूं इसलिये वह भाव मेरा नहीं है, मैं तो कल्याण स्वरूप शिव हूं॥ ४॥

मत्तो नान्यत्किंचिदत्रास्ति दृश्यं
सर्वं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम्।
आदर्शांतर्भासमानस्य तुल्यं
मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम्॥ ५॥

जो कुछ दृश्य है वह मुझसे अन्य नहीं है। दर्पण में देखने के समान माया की कल्पना से बाहर के सब पदार्थ मुझ अद्वैत रूप में दीखते हैं, इसलिये मैं मंगल स्वरूप शिव हूं॥ ५॥

भावार्थः—यहां जगत् में यानी ब्रह्मांडमें जो कुछ दीखता है, जानने में आता है, वह सब पदार्थ वस्तु स्वरूप मैं हूं, मुझको छोड़कर और कोई पदार्थ किंचित् मात्र भी नहीं है। जैसे दर्पणमें अनेक पदार्थ दीखते हैं परन्तु दर्पणमें दीखनेवाले पदार्थ दर्पणको छोड़कर उससे भिन्न पदार्थ नहीं होते, इसी प्रकार मैं आदर्श स्वरूप हूं। माया की कल्पना से किये हुए विविध

प्रकार के माया के चित्र मुझमें दीखते हैं, इसीलिये मैं मंगल स्वरूप-शिव हूं। जैसे बाहर के चित्रों का कोई भी चिह्न आदर्श में आकर नहीं टिकता, इसी प्रकार अनंत प्रपंच दीखते हुए भी मुझमें नहीं टिकते क्योंकि वे दिखाव मात्र हैं और जिसमें वे दीखते हैं वह आत्म स्वरूप आदर्श समान है, इसलिये मैं मंगल स्वरूप-शिव हूं ॥ ५ ॥

२—आत्मषट्कस्तोत्रम्।

भुजंगी छन्द।

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥ १ ॥

मैं मन बुद्धि अहंकार और चित्त नहीं हूं, कर्ण और जिह्वा नहीं हूं, नासिका और नेत्र नहीं हूं, आकाश और पृथ्वी नहीं हूं, तेज नहीं हूं, वायु नहीं हूं, परन्तु मैं चिदानन्द रूप शिव हूं, मैं शिव हूं ॥ १ ॥

भावार्थः—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों अन्तःकरण कहलाते हैं। अन्तःकरण माया के सतोगुण का कार्य है

और भीतर से काम करने के लिये जीवात्मा का साधन है तथा अपंचीकृत पंचभूतों से बना है, इसलिये वह मैं नहीं हूं। कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांचों ज्ञानेन्द्रियां बाहर से ज्ञान कराने को जीवात्मा का साधन हैं। उनकी उत्पत्ति पांच तत्त्वों में से एक एक के सतोगुण अंश से हुई है, अर्थात् कर्ण की उत्पत्ति आकाश से, त्वचा की वायु से, नेत्र की अग्नि से, जिह्वा की जल से और नासिका की पृथ्वी से हुई है, इसलिये वे मैं नहीं हूं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत माया के कार्य हैं, इसलिये वे भी मैं नहीं हूं। वह परम चैतन्य जो सब को चैतन्य प्रदान करता है, जिससे सब ब्रह्मांड का प्रकाश होता है और जो आनन्द का ऐसा महान् पर्वत है कि जिसके अणु अणु के आभास मात्र से सब आनन्द वाले हो रहे हैं, ऐसा कल्याण स्वरूप मैं हूं, देवताओं में महान् देव शङ्कर मैं हूं॥ १॥

न च प्राणवर्गो न पंचानिला मे
न तोयं न मे धातवो नैव कोशाः।
न वाक्पाणिपादौ न चोपस्थपायू
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ २॥

मैं जल और प्राणवर्ग नहीं हूं। मेरे पांच वायु नहीं हैं, मेरे धातु नहीं हैं, कोश नहीं हैं, वाचा, हाथ, पैर नहीं हैं, लिङ्गेन्द्रिय और गुदा नहीं है, मैं चिदानन्द स्वरूप शिव हूं, मैं शिव हूं॥ २॥

भावार्थः—मैं जल नहीं हूं इसलिये जल से जिनकी स्थिति है ऐसे पांच प्रकार के प्राण मैं नहीं हूं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पांच प्राण और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये पांच उपप्राण, यह प्राणवर्ग है। मेरा स्थूल शरीर नहीं है, इसलिये स्थूल शरीर की धातु अस्थि, मांस, मेद, रक्त, मज्जा त्वचा भी मेरे नहीं हैं। कोश शरीर के हैं, मैं शरीर नहीं हूं इसलिये कोश भी मैं नहीं हूं। स्थूल शरीर अन्नमय कोश है, सूक्ष्म शरीर प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश है तथा कारणशरीर आनन्दमयकोश है। वाचा, हाथ, पैर, लिंग और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। सब क्रियायें इन्हींसे होती हैं। मैं ये भी नहीं हूँ क्योंकि मैं अकर्ता हूँ। मैं चैतन्य आनन्द स्वरूप कल्याण स्वरूप हूँ, मैं शिव हूँ॥ २॥

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ
मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ ३॥

मेरे द्वेष और राग नहीं हैं, लोभ और मोह नहीं है, मेरे मद नहीं है तथा मत्सरका भी भाव नहीं है। मेरा धर्म नहीं, अर्थ नहीं, काम नहीं और मोक्ष भी मेरा नहीं है। मैं चिदानन्दस्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ॥ ३॥

भावार्थः—रागद्वेष जीवात्माके धर्म हैं और जीव भाव देहाध्यास से होता है। मुझमें देहाध्यास नहीं है, इसलिये जीव भाव

नहीं है और जीवभाव न होनेसे रागद्वेष भी मुझमें नहीं हैं। मुझमें लोभ नहीं है क्योंकि मुझको सब कुछ प्राप्त है। जब मुझे सब कुछ प्राप्त है तो लोभ किसका किया जाय ? मुझमें मोह नहीं है क्योंकि मेरेसिवाय दूसरा है नहीं, तब मोह किससे हो? मद और मात्सर्य (ईर्षा) द्वैत भाव में होते हैं, मैं तो अद्वैत हूं इसलिये मुझमें मद मात्सर्य नहीं है। धर्म, अर्थ और काम ये तीनों अल्पज्ञ को होते हैं, मैं अल्पज्ञ नहीं हूं, जो धर्म से ऐश्वर्य को प्राप्त होऊं, धनकी मुझे आवश्यकता नहीं जो धन प्राप्त करूं। मेरेलिये कामना का स्थान और पदार्थ मुझसे भिन्न नहीं है, इसलिये मुझमें कामना नहीं है। वैसे ही मोक्ष की इच्छा भी मुझे नहीं है क्योंकि मैं स्वयं मोक्ष स्वरूप हूँ। मैं तो चैतन्य आनन्द स्वरूप कल्याण रूप ऐसा शिव हूँ ॥ ३ ॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुखं
न मंत्रो न तीर्थं न वेदो न यज्ञः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥

पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, सुख नहीं है, दुःख नहीं है, तीर्थ नहीं है, वेद नहीं है और यज्ञ भी नहीं है। मैं भोजन नहीं हूँ, मैं भोज्य नहीं हूँ और भोक्ता भी नहीं हूँ, मैं तो चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थः—पाप पुण्य, सुख दुःख आत्मा को नहीं होते। मैं आत्म स्वरूप हूं, इसलिये पापादिक मुझको नहीं होते। मन्त्र

यानी मंतव्य आत्माको क्या होगा ? सब तीर्थों के अधिष्ठान को तीर्थ क्या ? वेद (ज्ञान) जानने को कहते हैं. जो ज्ञान स्वरूप है उसको वेद क्या ? यज्ञ अज्ञानीके लिये हैं। मैं अज्ञ नहीं इसलिये मेरे लिये यज्ञ नहीं है क्योंकि मैं तो अधिपति हूँ। भोजन, भोज्य और भोक्ता यह त्रिपुटी मायामें है, मुझमें माया है नहीं तो मुझमें त्रिपुटी कहां से हो ? मैं तो चैतन्य स्वरूप, आनन्द स्वरूप, कल्याण स्वरूप हूँ, मैं शिव हूँ ॥ ४ ॥

न मे मृत्युशंका न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बंधुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूपः शिवो ऽहं शिवोऽहम ॥ ५ ॥

मुझे मृत्युकी शङ्का नहीं है तथा मुझमें जातिका भेद भी नहीं है। मेरा पिता नहीं है, माता नहीं है, जन्म नहीं है, बन्धु नहीं है, मित्र नहीं है तथा गुरु शिष्य भी नहीं है। मैं चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थः—मुझे मरने की शंका नहीं है, क्योंकि मैं कभी नहीं मरता हूँ। मुझमें जाति का भी भेद नहीं है, क्योंकि मैं स्वजाति, विजाति, स्वगत भेद से रहित हूं। मेरी कोई जाति नहीं है इस लिये स्वजाति भेद मुझमें नहीं है। मेरे सिवाय दूसरा है नहीं इसलिये विजाति भेद मुझमें नहीं है। मेरे अवयव नहीं हो सकते इसलिये स्वगत भेद भी मुझ में नहीं है। जिसका जन्म होता है उसके पितामाता होते हैं। मेरा जन्म नहीं होता, इसलिये मेरे पिता

माता भी नहीं हैं। जो मरता है उसका जन्म होता है। मैं मरता नहीं इसलिये जन्मता भी नहीं। मेरा जन्म ही नहीं तो मेरा बन्धु कहां से हों ? द्वैत भाव में मित्र, गुरु और शिष्य होते हैं। मुझमें द्वैत नहीं है, इसलिये कोई मेरा मित्र नहीं है, मेरा कोई गुरु नहीं है और मेरा कोई शिष्य नहीं है। मैं तो चैतन्य स्वरूप, आनन्द स्वरूप तथा कल्याण स्वरूप शिव हूँ॥ ५॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो
विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बंध-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ ६॥

मैं निर्विकल्प निराकार रूप विभु हूँ और सर्व स्थान पर सर्वेन्द्रियों में व्यापक हो रहा हूँ। मुझमें सदा समता है, मेरी मुक्ति नहीं है तथा मुझे बंधन भी नहीं है, मैं तो चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूं॥ ६॥

भावार्थः—विकल्प माया में होता है। मुझमें माया नहीं है इसलिये मैं विकल्प रहित निर्विकल्प हूँ। विकल्प से ही आकार होता है। मैं विकल्प रहित होने से आकार रहित हूं, सर्वत्र व्यापक हूं, सब स्थान जो माया की कल्पना से बने हैं और सब इन्द्रियां जो माया का कार्य मात्र है, सबमें मैं व्यापक होकर वर्तमान हूँ। मैं हमेशा समान रहता हूँ। मुक्त स्वरूप होने से मेरी मुक्ति नहीं है और मैं कभी बंधन में नहीं पड़ता इसलिये मुझे

बंधन नहीं है। मैं तो चैतन्य स्वरूप, आनन्द स्वरूप, कल्याण स्वरूप हूँ, मैं शिव हूँ॥ ६॥

इति श्रीमच्छंकराचार्य विरचित आत्मषट्क स्तोत्र समाप्तम्।

३—निर्वाणदशक।

भुजंग प्रयात।

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकांतिकत्वात् सुषुप्त्यैकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥१॥

मैं भूमि नहीं हूँ, जल नहीं हूँ तेज नहीं हूँ, वायु नहीं हूँ, आकाश नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ और न उनका समूह हूँ; क्योंकि वे सब मायिक हैं और एक दूसरे से मेल वाले और विकारी हैं। मैं तो सुषुप्ति में सिद्ध, सबका अवशेष रूप एक केवल शिव हूँ॥ १॥

जैसे सुषुप्ति अवस्थाओं में अन्तिम है और एक है, इसी प्रकार मैं आत्म स्वरूप, सबका अन्तिम, सबके अन्त में बचने वाला

और विकार रहित हूं। पंचतत्त्व, इन्द्रियां और उनका समूह रूप मैं नहीं हूं क्योंकि मुझमें विकार का अवकाश नहीं है। वे उत्पत्ति नाश वाले अकल्याण का हेतु हैं और मैं कल्याण स्वरूप हूं।

न वर्णा न वर्णाश्रमाचार धर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोपि।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानात्
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥२॥

मुझमें वर्ण नहीं है, वर्ण और आश्रम के आचार और धर्म नहीं हैं, धारणा, ध्यान और योगादि भी नहीं हैं क्योंकि मेरे अनात्म रूप आश्रय वाले अहं मम रूप अध्यास की निवृत्ति हो गई है। मैं तो सर्वशेष एक केवल शिव हूं॥ २॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। ये चारों वर्ण जन्मने के बाद के हैं और लौकिक हैं। ऐसे ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त ये चार आश्रम हैं और ये भी शास्त्र विधि से ग्रहण किये जाते हैं तथा उनके धर्म भी वैसे ही हैं। मुझ आत्म स्वरूप में वे नहीं हैं और धारणा, ध्यान और योगादि भी मुझमें तब हो सकते हैं जब मैं अपने स्वरूप से पृथक् होऊं। मैं ऐसा नहीं हूं, इसलिये धारणा, ध्यान और योगादि भी मुझमें नहीं हैं। ये सब अनात्म रूप माया के आश्रय में अहं मम अध्यास करके ही सिद्ध हैं। यदि अहं मम का अध्यास न हो तो उनकी सिद्धि ही न हो, इसलिये वे मैं नहीं हूं। मैं तो सर्वातीत, सर्वशेष एक अद्वैत मंगल स्वरूप हूं।

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवंति ।
सुपुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वा—
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ३ ॥

मेरी माता नहीं है, पिता नहीं है, देव नहीं है, लोक नहीं है, वेद नहीं है, यज्ञ नहीं है तथा तीर्थ नहीं है; क्योंकि मैं तो सुपुप्ति के समान, निरस्त अतिशय और शून्य रूप हूं, इसलिये मैं सर्वशेष एक केवल शिव हूं ॥ ३ ॥

मेरे माता पिता नहीं हैं, क्योंकि मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है। मुझे देवता की आवश्यकता नहीं क्योंकि मैं ही सब देवताओं का दिव्य स्वरूप हूं। मेरे लोक भी नहीं हैं क्योंकि मेरा आना जाना नहीं होता। वेद, यज्ञ और तीर्थ अनात्म भाव से निवृत्त होने वाले के लिये उपयोगी होते हैं। मुझमें अनात्म भाव नहीं है इसलिये वे मेरे निमित्त नहीं हैं। जैसे सुपुप्ति में सब प्रपंच का अस्त हो जाता है। इसी प्रकार सब माया रहित एक आत्म स्वरूप होने से मैं एक सब का शेष शिव रूप हूं।

न सांख्यं न शैवं न तत्पांचरात्रं
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा ।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ४ ॥

मैं सांख्य धर्म वाला नहीं हूं, शैव भी नहीं हूं, पांचरात्र मतका नहीं हूं, जैन अथवा मीमांसा आदिक मत वाला नहीं हूं क्योंकि श्रेष्ठ अनुभव करके विशुद्ध स्वरूप हूं, इसलिये सर्व शेष एक केवल शिव रूप हूं ॥ ४ ॥

जितने मत मतांतर हैं वे सब ही आदि सुख स्वरूप की तरफ जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मैं तो सब का आदि स्वरूप और निर्विकार हूं इसलिये विकार हटा कर शुद्ध हो जाने के कारण सांख्य के सहारे की मुझे क्या आवश्यकता है ? विवेक स्वरूप और असंग मैं प्रथम ही हूं। मैं शैव धर्म का अवलम्बी नहीं हूं, क्योंकि मैं शिवस्वरूप हूं। मैं पंच रात्र वाला भी नहीं, धर्माधर्म वाला जीव को मान कर अधर्म की निवृत्ति कराने वाला जो जैन है वह कैवल्य स्वरूप तो मैं प्रथम ही हूं, इसलिये मुझे जैन धर्म की आवश्यकता नहीं है। मैं अक्रिय होने से मीमांसकों के कर्म का अवलम्बन वाला भी नहीं हूं। मैंने अपना सर्वोत्कृष्ट अनुभव किया है। मुझे विशुद्ध स्वरूप का बोध है इसलिये सर्व का शेष केवल शिव कल्याण स्वरूप मैं हूं।

न चोर्ध्वं न चाधो न चांतर्न बाह्यं
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरादिक् ।
वियद्व्यापकत्वादखंडैकरूप-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ५ ॥

मैं ऊपर भी नहीं हूं, नीचे भी नहीं हूं, भीतर भी नहीं हूं, बाहर नहीं हूं, मध्य नहीं हूं, टेढ़ा नहीं हूं, पूर्व पश्चिम

दिशा में नहीं हूं, क्योंकि आकाश की समान व्यापक हूं, अखंड एकरूप हूं, इसलिये मैं सब का शेष एक केवल शिव रूप हूं ॥५॥

मेरा शरीर देखकर यदि कोई ऐसा कहे कि तू परिच्छिन्न है तो इसका उत्तर यह है कि मैं वैसा नहीं हूं। ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर, मध्य, टेढ़ा और पूर्व पश्चिम दिशा में मैं नहीं हूं; क्योंकि जो आकाश की समान व्यापक है वह परिच्छिन्न भाव के स्थान में कैसे आ सकता है ? यदि कोई कहे कि व्यापक होने पर भी उपाधि के कारण परिच्छिन्न है तो यह भी नहीं है; क्योंकि मैं अखंड और सर्वात्मरूप हूं। उपाधिसे मेरे खंड नहीं होते, खंडपने की दृष्टि अज्ञान का विषय है। सबका आदि, सर्वशेष, निष्केवल कल्याण स्वरूप मैं हूं। इस प्रकार के बोध की दृढ़ता के लिये आत्मस्वरूप को कथन करते हैं—

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम् ।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ६ ॥

वह श्वेत नहीं है, काला नहीं है, वह लाल नहीं है, पीला नहीं है, कुबड़ा नहीं है, मोटा नहीं है, छोटा नहीं है, बड़ा नहीं है, परन्तु अरूप है, तथा ज्योति रूप आकार वाला है और वही मैं सब का शेष एक केवल शिव रूप हूं॥ ६ ॥

श्वेत, काला और लाल ये माया के गुण हैं। मैं माया रूप नहीं हूँ, इसलिये माया के गुण मेरे नहीं हैं, तब मैं श्वेत, काला अथवा लाल किस प्रकार होऊं? मैं पीला कुबड़ा, पीन, ह्रस्व और दीर्घ भी नहीं हूं, क्योंकि ये सब रूप वाले हैं और मैं रूप रहित अरूप हूँ। अरूप इस कारण हूँ कि ज्योति हूँ। इससे ज्योति के आकार वाला ही समझो, ज्योति भी भौतिक ज्योति नहीं, किंतु आत्म ज्योति जो सर्व का प्रकाशक है।

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा
न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः।
स्वरूपावबोधाद्विकल्पासहिष्णु-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ७ ॥

उपदेश देने वाला नहीं है, शास्त्र नहीं है, शिष्य नहीं है, और शिक्षा भी नहीं है। तू और मैं नहीं हूँ और प्रपंच भी नहीं है, क्योंकि मैं स्वरूप को जानने वाला हूँ इसलिये विकल्प को सहन नहीं कर सकता और अंत में सबका बचा हुआ एक केवल शिव स्वरूप हूँ ॥ ७ ॥

उपदेश अज्ञान में होता है मैं अज्ञान में नहीं हूँ. इसलिये उपदेश देने वाला नहीं हूं। शास्त्र, शिष्य और शिक्षा माया की त्रिपुटी में हैं इसलिये वे मैं नहीं हूँ। तू और मैं का झगड़ा आत्मा के अज्ञान से है और प्रपंच भी अज्ञान में है इसलिय वे भी मैं नहीं हूँ। स्वरूप का किसी से आवरण नहीं होता तो भी अज्ञान से आवरण के समान होकर विकल्पों को करता है। ऐसे विकल्पों को आत्मा धारण नहीं करता इसलिये सब का शेष एक केवल शिव स्वरूप मैं हूँ।

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्ति-
र्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा ।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीय-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ८ ॥

मुझमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था नहीं हैं और उनका अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ मैं नहीं हूँ। वे तीनों अविद्या स्वरूप हैं और मैं तो तुरीय रूप हूँ, इसलिये सर्व शेष केवल शिव स्वरूप मैं हूँ ॥ ८ ॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएं स्थूल शरीर में प्रतीत होती हैं और वे तीनों शरीर के अभिमान से होती हैं। मेरा स्थूल शरीर नहीं है, सूक्ष्म शरीर नहीं है और कारण शरीर भी नहीं है, तब उन शरीरों में होने वाली अवस्थायें किस प्रकार हों ? और जब अवस्था ही नहीं है तब उनका अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ भी मैं किस प्रकार होऊं ? वे तीनों अविद्या में हैं और अविद्या के कार्य हैं, मैं तो शरीरातीत और अवस्थातीत तुरीय हूँ इसलिये निष्केवल हूँ।

अपि व्यापकत्वाद्धि तत्त्वप्रयोगात्
स्वतःसिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ९ ॥

मैं व्यापक हूं, इसलिये और उसका तत्त्व शब्द से निर्देश किया जाता है इससे, स्वतः सिद्ध सत्ता वाला और अन्य के आश्रय रहित होने से मुझसे अन्य यह सब प्रपंच रूप जगत् तुच्छ है, मैं सर्व शेष केवल एक शिव रूप हूं ॥ ९ ॥

व्यापकता इस कारण बताई गई है कि प्रपंच की परिच्छिन्नता वाले के जानने में आवे। व्यापकता भी प्रसिद्ध तत्त्व जो स्वरूप है उसको जानकर शब्द द्वारा निर्दिष्ट की है वह सत्ता स्वतःसिद्ध है। दूसरे से सिद्ध न हो उसे स्वतःसिद्ध कहते हैं। आत्मसत्ता आत्मा से ही सिद्ध होती है। इस सत्ता को दूसरे का किञ्चित् आश्रय नहीं है। ऐसे आत्म तत्त्व से जो भिन्न है वह सब अत्यन्त तुच्छ है, अज्ञान की वृत्ति का क्षणिक दृश्य है और काल्पनिक और मिथ्या है, इसलिये सबका शेप मैं एक केवल शिव हूं।

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्या-
न्न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ॥
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वा-
त्कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ १० ॥

जब एक नहीं है, तब उससे अन्य दूसरा कहां से होवेगा ? ऐसे ही केवल भाव भी नहीं है और अकेवल भाव भी नहीं है। शून्य नहीं है और अशून्य नहीं है, क्योंकि अद्वैत रूप है तथा सब वेदान्त वाक्यों में जिसको सिद्ध किया है, उसका मैं किस प्रकार वर्णन करूं ? ॥ १० ॥

अद्वैत उसे कहते हैं कि जहां एक और अनेक कुछ भी न कहा जाय, जो केवल तत्त्व ही हो। अद्वैत यानी एक ही नहीं है, तब उससे अन्य दूसरा कहां से हो ? एक की अपेक्षा से दो और दो की अपेक्षा से एक होता है। अद्वैत में अपेक्षा नहीं है इस-लिये वह उन दोनों से परे और विलक्षण है। जो कोई कहे कि केवल एक ही है, सो भी नहीं और अकेवल भाव भी नहीं; वह तो केवल और अकेवल से अतीत है। तब कोई कहे कि शून्य है तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शून्य सत्ता रहित होता है और वह शून्य का प्रतिपक्षी अशून्य भी नहीं। वर्णन शब्द से होता है और वह शब्दातीत है। जहां शब्द का उच्चारण करते हैं, वहां अन्य ही होजाता है, इसलिये उसका कथन करना अशक्य है। वेदान्त वाक्य जो कथन करते हैं वे इशारे से करते हैं और साथ ही कहते हैं कि इशारा छोड़कर वस्तु का ग्रहण करो।

४—साधन पञ्चक।

शार्दूल विक्रीडित छन्द।

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं
कर्म स्वनुष्ठीयताम्।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः
काम्ये मतिस्त्यज्यताम्॥

पापौघः परिधूयतां भवसुखे
दोषोनुसंधीयता-
मात्मेच्छाव्यवसीयतां निजगृहात्
तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥ १ ॥

मनुष्यों को वेद का नित्य अध्ययन करना चाहिये, वेद में कहे हुए कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, कर्म से ईश्वर की उपासना करनी चाहिये और कामना की बुद्धि न रखनी चाहिये। उसको पाप समूह का नाश करना चाहिये, संसार के सुखों में दोष दृष्टि करना चाहिये, अपनी इच्छाओं का नाश करना चाहिये तथा इस प्रकार की वृत्ति होने के पश्चात् शीघ्र घर के बाहर जाना चाहिये अर्थात् संन्यास लेना चाहिये ॥ १ ॥

संगः सत्सु विधीयतां भगवतो
भक्तिर्दृढा धीयताम् ।
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं
कर्माशु संत्यज्यताम् ॥
सद्विद्वानुपसर्प्यतां प्रतिदिनं
तत्पादुके सेव्यताम् ।
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरो
वाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥ २ ॥

सत पुरुषों का संग करना चाहिये, भगवान् में दृढ़ भक्ति धारण करना चाहिये, शान्ति आदिक गुणों का सेवन करना चाहिये और अत्यन्त दृढ़ ऐसे कर्मों का शीघ्र त्याग करना चाहिये। उत्तम अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ के पास जाकर उसकी पादुकाओं का सेवन करना चाहिये तथा एकाक्षर रूप ॐकार का ध्यान और वेदान्त का श्रवण करना चाहिये ॥ २ ॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरः
पक्षः समाश्रीयताम् ।
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमत-
स्तर्कोनुसंधीयताम् ॥
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यतामहरह-
र्गर्वः परित्यज्यताम् ।
देहेहंमतिरुज्झतां बुधजनै-
र्वादः परित्यज्यताम् ॥ ३ ॥

वेद वाक्यों के अर्थ का विचार करके उपनिषदों में प्रतिपादित पक्ष का आश्रय करना चाहिये। झूठी तर्कों का छेदन कर श्रुति युक्त तर्कों का अनुसंधान करना चाहिये। मैं ब्रह्म हूं, इस प्रकार की नित्य भावना रखकर गर्व को छोड़ देना चाहिये तथा अपनी देह की अहं बुद्धि का त्याग करते हुए विद्वानों के साथ मिथ्या वादविवाद करना छोड़ देना चाहिये ॥ ३ ॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं
भिक्षौषधं भुज्यताम् ।
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्
प्राप्तेन संतुष्यताम् ॥
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा
वाक्यं समुच्चार्यताम् ।
औदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपा-
नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥ ४ ॥

क्षुधा रूपी रोग का निवारण करने के लिये प्रति दिन भिक्षा रूपी औषधि का भक्षण करना चाहिये। स्वादिष्ट अन्न की याचना न करते हुए यथाप्राप्त में संतुष्ट रहना चाहिये, शीत और उष्ण को सहन करना चाहिये, कभी वृथा न बोल कर उदासीन रहते हुए सब मनुष्यों की ओर रागद्वेष का त्याग करना चाहिये ॥ ४ ॥

एकांते सुखमास्यतां परतरे
चेतः समाधीयताम् ।
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं
तद्बाधितं दृश्यताम् ॥

प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबला-
न्नाप्युत्तरैःश्लिष्यताम् ।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथपर-
ब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥ ५ ॥

एकांत स्थान में सुख पूर्वक बैठकर परमात्मा में चित्त को स्थिर करके, इस सब जगत् को मिथ्या समझ कर ब्रह्ममय देखो। पूर्व कर्म का भोग करके बल पूर्वक चित्त का लय करो। जिस करके कर्म का बंधन न हो इस प्रकार वर्तना चाहिये और प्रारब्ध का भोग करते हुए परब्रह्म के विषे स्थिति रखना चाहिये ॥ ५ ॥

वसंततिलका छन्द ।

यः श्लोक पंचकमिदं पठते मनुष्यः
संचिंतयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य ।
तस्याशु संसृतिदवानलतीव्रघोर-
तापः प्रशांतिमुपयाति चितिप्रसादात् ॥ ६ ॥

जो कोई इन पांच श्लोकों का पाठ करता है और प्रति दिन चित्त को स्थिर करके चिंतवन करता है, शुद्ध चैतन्य—परब्रह्म की कृपा से उसके संसार रूपी दावानल जनित तीव्रतर तापों का शमन होता है ॥ ६ ॥

५—काशी पंचक स्तोत्र ।

उपजाति छन्द ।

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः
सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च ।
ज्ञानप्रवाहा विमलादिगंगा
सा काशिकाहं निजबोधरूपा ॥ १ ॥

जहां मन की निवृत्ति रूप परम उपशान्ति है, वह ही तीर्थों में श्रेष्ठ मणिकर्णिका है और वह ही ज्ञान रूप प्रवाह वाली तथा निर्मलता आदिक गुणों वाली गंगा है और वही निज बोध स्वरूप काशी मैं हूं ॥ १ ॥

जिस स्थान पर मन की परम उपशान्ति है, वह आत्म-स्थान है । जब मन अपनी सब वृत्तियों को, जो प्रपंच की ओर प्रवृत्त हो रही हैं, समेट कर अपने अधिष्ठान में लय को प्राप्त होता है तब वह आत्मस्थ है; वही मणिकर्णिका का घाट है यानी मणि की समान प्रकाश वाला है और जहां ज्ञान के प्रवाह वाली ब्रह्माकार की अखंड धारा बहती है, जहां अत्यन्त निर्मल, सब प्रकार के पाप और संसार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करने वाली पवित्र गंगा वहन करती है, वह काशी स्वरूप मैं हूं ।

शंका—तब क्या प्रसिद्ध काशी काशी नहीं है और जहां आत्मा का प्रकाश होता है वह ही यथार्थ काशी है ?

समाधान—लौकिक काशी प्रपंचासक्त मनुष्यों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिये एक अवलम्बन रूप है। जो स्थूल स्थान को ही काशी मानता है, उसको उस काशी से जो फल होता है वह स्थूल ही होता है। काशी को शंकर ने त्रिशूल के ऊपर रक्खा है, इसलिये प्रलय में भी उसका नाश नहीं होता, ऐसा कहते हैं। जिस काशी का प्रलय में भी नाश नहीं होता, वह काशी स्थूल किस प्रकार हो सकती है? शंकर कल्याण रूप हैं, उसके माया रूप त्रिशूल तीनों गुण हैं, उनके ऊपर अर्थात् गुणातीत भाव में काशी को रक्खा गया है। गुणातीत का ही प्रलय में नाश नहीं होता, इसलिये आत्माकार वृत्तिरूप स्थान ही मुख्य काशी है। और भी कहा है, जैसे स्थूल काशी में स्थूल गंगा का प्रवाह है वैसे उस काशी में ज्ञान प्रवाह रूप गंगा है। जैसे गंगा अति निर्मल होने से दूसरों को भी निर्मल करती है, इसी प्रकार ज्ञान प्रवाह रूप पवित्र करने वाली गंगा जहां वहन करती है, वह काशी स्थान मैं ही हूं। मैं आत्मा रूप हूं और मैं ही अपना बोध स्वरूप काशी हूं।

> यस्यामिदं कल्पितमिंद्रजालं
> चराचरं भाति मनोविलासम्।
> सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा
> सा काशिकाहं निजबोधरूपा ॥ २ ॥

जिसके विषे यह सब चराचर जगत् मन के विलास रूप कल्पित इंद्रजाल सा भासता है और जो केवल सच्चिदानन्द रूप परमात्मा तत्त्व है वही निज बोध रूप काशी मैं हूं ॥ २ ॥

सब ब्रह्मांड इन्द्रजालके समान है। इन्द्रजाल जादू को कहते हैं। जैसे जादू की वस्तुयें देखने में आती हैं, परन्तु जैसी वे दीखती हैं वस्तु रूप से वैसी नहीं होतीं, इसी प्रकार सब ब्रह्मांड है। वह मन का विलास मात्र है। जितना चर और अचर स्थावर जंगम है वह मन रूप जादूगर की कृति है। ऐसा होते हुए भी मन और उसका किया हुआ विस्तार वस्तु रूप से सच्चिदानन्द रूप एक परमात्मा स्वरूप है। वह परमात्मा ही काशी है और वह आत्मबोध वाली काशी मैं हूँ।

इन्द्रवज्रा छन्द।

कोशेषु पंचस्वधिराजमाना
बुद्धिर्भवानी प्रतिदेहगेहम्।
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा
सा काशिकाहं निजबोधरूपा॥ ३॥

जहां प्रत्येक देह रूप घर के पांच कोशों में बुद्धि रूप से भवानी विराजमान है और सब स्थानमें भरपूर सबका अन्तर आत्मा तथा साक्षी रूप शिव विराजमान है, वह निज बोध स्वरूप काशी मैं हूँ॥ ३॥

स्थूल शरीर पंच कोशमय कहा जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, ये पांच कोश हैं। इन पांचों कोशों में आत्मा विराजमान है। प्रत्येक शरीर में बुद्धि होती है, वह बुद्धि भवानी यानी पार्वती रूप है। बुद्धि परिच्छिन्न

है परन्तु जो आत्मा सब स्थान में भरा हुआ है, सब किसी का अन्तर आत्मा है, अपना आप साक्षी रूप है, वह शिव है। ऐसा निज बोध स्वरूप काशी मैं हूँ।

अनुष्टुप छन्द।

काश्यां हि काशते काशी
काशी सर्वप्रकाशिका।
सा काशी विदिता येन
तेन प्राप्ता हि काशिका॥ ४॥

प्रसिद्ध काशी में चेतन रूप काशी प्रकाश करती है। वह चेतन रूप काशी सबकी प्रकाशक है। जिसने वह काशी जानली है, उसने वास्तव में काशी की प्राप्ति की है॥ ४॥

प्रसिद्ध काशी जो शरीर है अथवा जो काशी शहर है, वे दोनों ही जड़ हैं। जिसके प्रकाश से वे दोनों प्रकाशित होते हैं, वह चैतन्य रूप काशी सबकी प्रकाशक है अर्थात् सब देहों और सब शहरों को, सब लोकों को तथा सब पदार्थों को प्रकाश करने वाली है। चैतन्य काशी का जानना कठिन है, क्योंकि यद्यपि वह एक ही सबकी प्रकाशक है तो भी सबके प्रकाश में भिन्नता है। जब प्रकाश की भिन्नता त्याग करके सामान्य प्रकाश रूप ग्रहण किया जाता है तब ही काशी जानी जाती है और जो जान जाता है वह जानने का स्वरूप ही होजाता है, इसलिये काशी उसीको प्राप्त होती है। जो काशीके यथार्थ स्वरूप को नहींजानते

उनको यथार्थरूप काशी की प्राप्ति नहीं होती। प्रकाशक तत्त्व सब स्थानों में भरा हुआ होने से काशी सब का स्थान है परन्तु जो कोई सूक्ष्म बुद्धि से उसे जानता है, उसको ही वह प्राप्त होती है।

स्रग्धरा छन्द।

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजठरे
व्यापिनी ज्ञानगंगा।
भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरण-
ध्यानयोगः प्रयागः॥
विश्वेशोऽयं तुरीयः सकलजनमनः—
साक्षिभूतोऽन्तरात्मा।
देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुन-
स्तीर्थमन्यत्किमस्ति॥ ५॥

शरीर रूप काशी क्षेत्र है और तीनों भुवनों में व्यापने वाली ज्ञान रूप गंगा है। भक्ति रूप और श्रद्धा रूप गया है और निज गुरु के चरणों का ध्यानयोग प्रयाग है तथा विश्वेश्वर यह सब मनों का साक्षी भूत अन्तर आत्मा तुरीय रूप है। जब सब मेरे देह में ही बसते हैं तब मुझे अन्य तीर्थ की क्या आवश्यकता है?॥ ५॥

काशी क्षेत्र को मुक्तिदायक कहा है। इसी प्रकार मनुष्य शरीर रूपी क्षेत्र से ही परम पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जैसे काशीमें गंगा है, इसी प्रकार तीनों भुवनों में व्यापक तथा शरीर के मध्य में रहने वाली ज्ञानरूप गंगा है अर्थात् हृदय में रहने वाले का प्रकाश ज्ञान रूप है, उसीके प्रकाश से सब चेष्टा वाले होते हैं। तीर्थों में गया तीर्थ है, इसी प्रकार शरीर में रहने वाली भक्ति और श्रद्धा गया है। अब प्रयाग तीर्थ को बताते हैं कि निज गुरु के चरणों का ध्यान रूपी जो योग है, वही प्रयाग है। गुरु कहने से ब्रह्मनिष्ठ गुरु का ही बोध होता है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु के दो चरण हैं, परब्रह्म का बोध एक और जगत की निवृत्ति दूसरा चरण है, उनका ध्यान करने से परम-पद की प्राप्ति होती है। जैसे प्रयाग में त्रिवेणी संगम है, इसी प्रकार इस ध्यान के करने से त्रिपुटी का नाश होकर अद्वैत में एकता होती है। अब इन तीर्थों के पीछे मुख्य देव को बताते हैं-जो सबके मनका साक्षी रूप है, जिससे मन मनन क्रिया में प्रवृत्त होता है, जो सबका अन्तरात्मा तुरीय है, ऐसा त्रिपुटी से भिन्न वह चौथा सब विश्व का ईश्वर है। जब सब तीर्थ और महान् देव भी मुझमें ही वास कर रहे हैं तब मुझको अन्य तीर्थ की क्या आवश्यकता है ? अभिप्राय यह है कि सर्वोच्च आत्मतीर्थ का जब मुझको पूर्ण बोध है तब लौकिक तीर्थों से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। लौकिक तीर्थ महान् तीर्थ रूप आत्मा की प्राप्ति में सहाय रूप हैं। जब मुझे आत्मतीर्थ की ही प्राप्ति है तब सब तीर्थों का समन्वय उसमें स्वाभाविक हो जाता है।

६—मनीषापंचक ।

अनुष्टुप छन्द ।

सत्याचार्यस्य गमने कदाचिन्मुक्ति दायकम् ।
काशीक्षेत्रं प्रति सह गौर्या मार्गे तु शंकरम् ॥ १ ॥

एक समय मुक्ति देने वाले काशी क्षेत्र में श्रीशंकराचार्यजी रहे थे तब मार्ग में गौरी सहित शङ्कर को ॥ १ ॥

अंत्यवेषधरं दृष्ट्वा गच्छ गच्छेति चाब्रवीत् ।
शंकरःसोऽपि चांडालस्तं पुनः प्राह शंकरम् ॥ २ ॥

चांडाल का वेष धारण किये हुए देखकर श्रीशंकराचार्य स्वामीने 'गच्छ गच्छ' (चल चल) ऐसा कहा, तब वह चांडाल रूप शंकर शंकराचार्य से कहने लगे ॥ २ ॥

आर्या वृत्त ।

अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात् ।
द्विजवर दूरीकर्तुं वांछसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति ॥ ३

हे कर्मकांडी द्विजवर, क्या 'चल चल' ऐसे कह करके अन्नमय शरीर से अन्नमय शरीर को अथवा चैतन्य से चैतन्य को तू हटाना चाहता है, सो कह ॥ ३ ॥

शार्दूल विक्रीडित छन्द ।

किं गंगांबुनि बिंबितेम्बरमणौ
चांडालवाटीपयः—
पूरे चांतरमस्ति कांचनघटी
मृत्कुंभयोर्वाम्बरे ॥
प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरंगसहजा-
नंदाव बोधाम्बुधौ ।
विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान्
कोयंविभेदभ्रमः ॥ ४ ॥

क्या गंगा जल में और चांडाल की गली के जल में पड़े हुए प्रतिबिंब से सूर्य में भेद है ? क्या सुवर्ण के घट के आकाश में और मट्टीके घटके आकाश में भेद है ? नहीं है ! तब तरंग रहित, सहज आनन्द और ज्ञान के समुद्र रूप प्रत्यगात्म वस्तु में यह ब्राह्मण है, यह चांडाल है, ऐसा भेद भ्रम किसलिये ? ॥ ४ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा
या संविदुज्जृंभते ।
या ब्रह्मादिपिपीलिकांततनुषु
प्रोता जगत्साक्षिणी ॥

सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढा-
प्रज्ञापि यस्यास्ति चेत् ।
चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरि-
त्येषा मनीषा मम ॥ ५ ॥

तब श्रीशंकराचार्य स्वामी ने कहाः—जो संवित् (चैतन्य) जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में अत्यन्त स्पष्ट दीखती है, जो जाग्रत की साक्षिणि रूप है, जो संवित् (चैतन्य) ब्रह्मा आदि से लेकर चींटी पर्यंत के शरीरों में ओत प्रोत है, सोई मैं हूं। मैं दृश्य वस्तु नहीं हूं। जिसकी ऐसी दृढ़ बुद्धि है, वह चाहे चांडाल हो अथवा ब्राह्मण हो, सबका ही गुरु है, इस प्रकार मेरा निश्चय है ॥ ५ ॥

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं
चिन्मात्रविस्तारितम् ।
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणया
शेषं मया कल्पितम् ॥
इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे
नित्ये परे निर्मले ।
चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरि-
त्येषा मनीषा मम ॥ ६ ॥

मैं और चिन्मात्र रूप विस्तार वाला यह सब जगत् ब्रह्म ही है और त्रिगुणात्म रूप यह सब संपूर्ण अविद्या करके मुझसे ही कल्पित है। इस प्रकार जिसकी मतिं है वह अत्यंत सुख स्वरूप, नित्य निर्मल ऐसे परब्रह्म में स्थित है। वह चांडाल हो अथवा ब्राह्मण हो सबका ही गुरु है। इस प्रकार के निश्चय रूप मेरी बुद्धि है ॥ ६ ॥

शश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं
निश्चित्य वाचा गुरो-
र्नित्यं ब्रह्म निरंतरं विमृशता
निर्व्याजशांतात्मना ॥
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता
संविन्मये पावके ।
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुरि-
त्येषा मनीषा मम ॥ ७ ॥

संपूर्ण विश्व नश्वर है, इस प्रकार एकबार जो गुरुके वचनोंसे निश्चय करके नित्य निरन्तर ब्रह्म को निष्कपट भाव से शांत चित्त करके विचारता है, जो भूत और भविष्य को ज्ञानमय अग्नि में दहन करता है और जिसने अपने शरीर को प्रारब्ध के अर्पण कर दिया है, वह गुरु है, ऐसी मेरी बुद्धि है ॥ ७ ॥

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहमि-
त्यन्तःस्फुटा गृह्यते ।
यद्भासाद्धृदयाक्षदेहविषया
भाति स्वतोऽचेतनाः ॥
तां भास्यैः पिहितार्कमंडलनिभां
स्फूर्तिं सदा भावयन् ।
योगी निर्वृ तमानसो हि गुरुरि-
त्येषा मनीषा मम ॥ ८ ॥

जिसका तिर्यक्, नर और देवताओं द्वारा 'मैं हूँ' ऐसा अन्तः-करणमें स्पष्ट ग्रहण होता है और जिसके प्रकाशसे स्वतः अचेतन रूप अन्तःकरण, इन्द्रिय, देह और विषय भासते हैं, उस भास्य रूप बादल से आच्छादित सूर्यमंडल के सदृश जो उस स्फूर्ति की भावना करता हुआ योगी सुख को प्राप्त होता है वही गुरु है, ऐसी मेरी बुद्धि है ॥ ८ ॥

यत्सौख्यांबुधिलेशलेशत इमे
शक्रादयो निर्वृताः ।
यच्चित्ते नितरां प्रशांतकलने
लब्ध्वा मुनिर्निर्वृतः ॥

यस्मिन्नित्यसुखाम्बुधौ गलितधी-
र्ब्रह्मैव न ब्रह्मविद् ।
यत्कश्चित्स सुरेन्द्रवंदितपदो
नूनं मनीषा मम ॥ ९ ॥

जिस आनन्द समुद्र के लेश मात्र से इन्द्रादिक देवता आनन्दित हो रहे हैं और जिनकी कल्पना शांत हुई है, ऐसे मुनि जिसको चित्त से ग्रहण करके आनन्दित होते हैं और नित्य सुख के समुद्र में जिसने बुद्धि को गलित किया है, वह पुरुष केवल ब्रह्म वित् (जानने वाला) ही नहीं, ब्रह्म ही है। ऐसा जो कोई भी है वह सुरेन्द्रको वन्दन करने योग्य है, ऐसी मेरी बुद्धि है ॥ ९ ॥

७—त्रोटकाचार्य ।

एक समय श्रीशंकराचार्यजी विचरते हुए शृंगगिरि में पहुंचे। वहां उनका गिरि नाम का एक नया शिष्य हुआ। यह शिष्य आचार्य की आज्ञानुसार चलने वाला और कम बोलने वाला था। वह उनकी पूर्ण भावसे पाद सेवन आदि सेवा किया करता था, उनके सामने कभी जंभाई न लेता और न कभी पैर फैलाकर बैठता था। जब आचार्य खड़े होते तो वह खड़ा रहता और जब वे चलते तो उनके पैर के निशान पर पैर न

रखकर कुछ फासले से पीछे पीछे चला करता था। एक दिन वह गिरि नाम का शिष्य आचार्य के वस्त्र धोने को नदी पर गया हुआ था। कथा आरंभ करने का समय देखकर पद्मपाद नामक एक शिष्य ने कहा "हे भगवन्! कथा का आरम्भ कीजिये, समय हो गया है।" श्री शंकराचार्यजी बोले "कुछ देर ठहरो! गिरि नदी पर गया है, आता ही होगा, उसके आते ही मैं कथा का आरम्भ करूंगा।" पद्मपाद बोला "महाराज! गिरि मंद बुद्धि वाला है, शास्त्र समझ नहीं सकता, उसकी राह देखना व्यर्थ है।" आचार्य ने पद्मपाद का गर्व तोड़ने के लिये गिरि के ऊपर अनुग्रह करते हुए वहां बैठे हुए ही सब विद्या गिरि को दे दी। थोड़ी देर में गिरि ब्रह्मतत्त्व के प्रकाश करने वाले त्रोटक वृत्त को बोलता हुआ सभा में आया। तब से उसका नाम त्रोटकाचार्य पड़ा। वह त्रोटक वृत्त इस प्रकार है—

त्रोटकवृत्त।

भगवन्नुदधौ मृतिजन्मजले
सुखदुःखझषे पतितं व्यथितम्।
कृपया शरणागतमुद्धर मा-
मनुशाध्युपसन्नमनन्यगतिम्॥ १॥

हे भगवन्! जन्म मरण रूप जल वाले और सुख दुःख रूप मछली वाले संसार समुद्र में गिरा हुआ और बहुत से कष्ट पाता हुआ मैं आपके शरण आया हूँ। मुझे तारने वाला दूसरा कोई नहीं है, कृपा करके आप मेरा उद्धार करो और उपदेश दो॥ १॥

विनिवर्त्य रतिं विषये विषमां
परिमुच्य शरीरनिबद्धमतिम् ।
परमात्मपदे भव नित्यरतो
जहि मोहमयं भ्रममात्ममते ॥ २ ॥

हे आत्ममते ! विषम विषयों में प्रीति को निवृत्त करके, शरीर में बंधी हुई बुद्धि को त्याग कर और मोहमय भ्रम को छोड़कर परमात्म पद में हमेशा प्रीति वाला हो ॥ २ ॥

विसृजान्नमयादिषु पञ्चसु ता-
महमस्मिममेति मतिं सततम् ।
दृशिरूपमनन्तमजं विगुणं
हृदयस्थमवेहि सदाऽहमति ॥ ३ ॥

अन्नमय आदि पांच कोशों में 'मैं' और 'मेरा' ऐसा भाव त्याग करके ज्ञानरूप, अनंत, अजन्म, सत्त्वादि गुणों से रहित, जो हृदय में रहा हुआ है वही सदा मैं हूं, इस प्रकार जान ॥ ३ ॥

जलभेदकृता बहुतेव रवे-
र्घटिकादिकृता नभसोऽपि यथा ।
मतिभेदकृता तु तथा बहुता
तव बुद्धिदृशोऽविकृतस्य सदा ॥ ४ ॥

जैसे जल के भेद से सूर्य के बहुत रूप दीखते हैं, जैसे घटादि के भेद से आकाश में भेद होता है, इसी प्रकार बुद्धि के भेद से हमेशा आप अविकारी के भेद होते हैं ॥ ४ ॥

दिनकृत्प्रभया सदृशेन सदा ।
जगच्चित्तगतं सकलं स्वचिता ॥
विदितं भवताऽविकृतेन सदा ।
यत एवमतोऽसि सदेव सदा ॥ ५ ॥

सूर्य की प्रभा के समान सब जगत् के हृदय में रहकर सदा जानते हो, आप सदा अविकारी हो, क्योंकि जैसे के वैसे आप सदा सत्य ही हो ॥ ५ ॥

८—शिव स्तुति ।

भुजंगप्रयात वृत्तम् ।

अनाद्यन्तमाद्यं परं तत्त्वमर्थं
चिदाकारमेकं तुरीयं त्वमेयम् ।
हरिब्रह्ममृग्यं परब्रह्मरूपम्
मनोवागतीतं महः शैवमीडे ॥ १ ॥

आदि और अन्त रहित, आदि रूप, पर तत्त्व रूप, अर्थ रूप, चैतन्यमय, एक, तुरीय रूप, प्रमाण रहित, विष्णु और ब्रह्मा को चिंतवन करने योग्य, परब्रह्म रूप, मन और वाणी से अतीत ऐसे महान् शिव की मैं स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

स्वशक्त्यादिशक्त्यंतसिंहासनस्थम्
मनोहारिसर्वाङ्ग रत्नादिभूपम् ।
जटाचन्द्रगङ्गास्थिसंपर्कमौलिं
पराशक्तिमित्रं नुमः पंचवक्त्रम् ॥ २ ॥

अपनी शक्ति की आदि में तथा उसके अन्त में सिंहासन पर बैठे हुए, मन को हरण करने वाले, सब अङ्ग रत्नादि आभूपणों से सुशोभित, चन्द्र और गंगा से युक्त जटा रूप मुकुट वाले, परा शक्ति के मित्र और पांच मुख वाले महेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

शिवेशानतत्पूरुपाघोर वामा-
दिभिर्ब्रह्मभिर्हृन्मुखैः पड्भिरङ्गैः ।
अनौपम्यषट्त्रिंशतं तत्त्वविद्या-
मतीतं परं त्वां कथं वेत्ति को वा ॥ ३ ॥

शिव, ईशान, तत्पुरुप, अघोर, वाम आदि मंत्रोंसे हृदयमें मुख वाले छः अंगों से भी ब्रह्मादि की उपमा न दी जाय ऐसा छत्तीस विद्याओं से अलग ऐसा तुमको कौन और किस प्रकार जाने ॥ ३ ॥

प्रवालप्रवाहप्रभाशोणमर्धं
मरुत्वन्मणिश्रीमहः श्याममर्धम् ।
गुरु स्यूतमेकं वपुश्चैकमन्तः
स्मरामि स्मरापत्तिसंपत्ति हेतुम् ॥ ४ ॥

प्रवाल के समूह की कांति के समान जिसका एक अर्धभाग है तथा नील मणि के समान श्याम कांति वाला जिसका दूसरा अर्धभाग है तथा ये दोनों जिस एक महान् शरीर में मिले हुए हैं, ऐसे काम का नाश करने वाले तथा उसको फिरसे नवजीवन देने वाले शंकर का मैं ध्यान करता हूं ॥ ४ ॥

स्वसेवासमायातदेवासुरेन्द्रा-
नमन्मौलिमन्दारमालाभिषिक्तम् ।
नमस्यामि शंभो पदाम्भोरुहं ते
भवाम्भोधिपोतं भवानीविभाव्यम् ॥ ५ ॥

अपनी सेवा अर्पण करने के लिये आये हुए देवता और इन्द्र ये जब आपको नमस्कार करते हैं तब इनके मुकुट के ऊपर रही हुई मन्दार पुष्प की माला से अभिषिक्त हुए संसार समुद्र के लिये नाव रूप और भवानी से सेवित आपके चरणों को, हे शंभो ! मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

जगन्नाथ मन्नाथ गौरीश नाथ
प्रपन्नानुकम्पिन्विपन्नार्तिहारिन् ।
महस्तोममूर्ते समस्तैकबन्धो
नमस्ते नमस्ते पुनस्ते नमोऽस्तु ॥ ६ ॥

हे जगन्नाथ ! हे मेरे प्रभु ! हे गौरीपते ! हे शरण आये हुए पर अनुग्रह करने वाले ! हे पीड़ा को नाश करने वाले ! हे तेज और यज्ञमय मूर्ति वाले ! हे सब जगत् के बन्धु ! आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

महादेव देवेश देवाधिदेव
स्मरारे पुरारे यमारे हरेति ।
ब्रुवाणः स्मरिष्यामि भक्त्या भवन्तं
ततो मे दयाशील देव प्रसीद ॥ ७ ॥

हे महादेव ! देवताओं के अधिपति ! हे देवताओं के अधिदेव ! हे कामदेव के शत्रु ! हे त्रिपुरासुर के शत्रु ! हे यम दैत्य के शत्रु ! इस प्रकार मैं भक्ति पूर्वक आपका नाम स्मरण करता रहता हूँ इसलिये, मुझ पर हे दयालु ! आप प्रसन्न हो जाइये ॥ ७ ॥

विरूपाक्ष विश्वेश विश्वाधिकेश
त्रयीमूल शंभो शिव त्र्यम्बक त्वम् ।

प्रसीद स्मर त्राहि पश्यावपुष्य
क्षमस्वाप्नुहीतिक्षपा हि क्षिपामः ॥ ८ ॥

'हे विरूपाक्ष, प्रसन्न हूजिये, हे विश्व के स्वामी, मुझे आपदा से बचाओ, हे विश्व के अधिपति, मेरी ओर दृष्टि करिये, हे वेद के आदि रूप मेरी रक्षा करो, हे कल्याण करने वाले मेरा पोषण करो, त्र्यंबक मेरे अपराध क्षमा करो और मेरा अंगीकार करो' इस प्रकार कहते कहते मेरी रातें बीत जाती हैं ॥ ८ ॥

त्वदन्यः शरण्यः प्रपन्नस्य नेति
प्रसीद स्मरन्नोऽवहन्यास्तु दैन्यम् ।
न चेत्ते भवेद्भक्तवात्सल्यहानि-
स्ततो मे दयालो दयां सन्निधेहि ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! हम दीनों के लिये आपके सिवाय कोई दूसरा हमारा शरण नहीं है, इसलिये आप हम पर प्रसन्न होकर हमारी दीनता को नष्ट करो। हे प्रभो, यदि ऐसा न करो तो आपका जो भक्तों पर प्रेम है उसमें न्यूनता आ जायगी इसलिये, हे दयालु ! मुझ पर दया करो ॥ ९ ॥

अयं दानकालस्त्वहं दानपात्रं
भवान्नाथ दाता त्वदन्यं न याचे ।
भवद्भक्तिमेव स्थिरां देहि मह्यं
कृपाशील शंभो कृतार्थोऽस्मि तस्मात् ॥१०

हे शम्भो ! दान देने का यह समय है, मैं दान ग्रहण करने का पात्र हूँ। आप दान देने वाले हो इसलिये मैं आपके सिवाय दूसरे से याचना नहीं करता। आप मुझे अपनी अचल भक्ति दीजिये, जिससे मैं कृतार्थ होजाऊं ॥ १० ॥

पशुं वेत्सि चेन्मां त्वमेवाधिरूढः
कलंकीति वा मूर्ध्नि धत्से त्वमेव ।
द्विजिह्वः पुनः सोपि ते कण्ठभूषा
त्वदङ्गीकृताः सर्व सर्वेऽपि धन्याः ॥ ११ ॥

हे सर्व ! जो आप मुझको पशु मानते हो तो आप पशु के ऊपर बैठे हुए हो, जो मुझको कलंकित मानते हो तो कलंकित चन्द्र को आप धारण किये हुए हो, जो सर्प मानते हो तो आप अपने कंठ में सर्पों को धारण कर रहे हो। हे सर्वरूप, अधिक क्या कहें, जिन जिनको आपने अंगीकार किया है वे सब ही धन्य हैं ॥ ११ ॥

न शक्नोमि कर्तुं परद्रोहलेशं
कथं प्रीयसे त्वं न जाने गिरीश ।
तथा हि प्रसन्नोऽसि कस्यापि कान्ता-
सुतद्रोहिणो वा पितृद्रोहिणो वा ॥ १२ ॥

हे गिरीश ! मैं किंचित् भी परद्रोह नहीं कर सकता, इसलिये मैं नहीं जानता कि आप मुझ पर किस प्रकार प्रसन्न होंगे,

क्योंकि स्त्री और पुत्र का द्रोह करने वाले से वा पिता का द्रोह करने वाले से आप प्रसन्न रहते हैं॥ १२ ॥

स्तुतिं ध्यानमर्चां यथावद्विधातुं
भजन्नप्यजानन्महेशावलम्बे ।
त्रसंतं सुतं त्रातुमग्रे मृकण्डो-
र्यमप्राणनिर्वापणं त्वत्पदाब्जम् ॥ १३ ॥

हे महेश्वर, मैं आपकी स्तुति, ध्यान, अर्चा आदि किस प्रकार करते हैं यह नहीं जानता, यद्यपि अपने पुत्र तुल्य और दुःखी मार्कंडेय की रक्षा के लिये उसके आगे विराजमान तथा यम से उसके प्राणों के बचाने वाले आपके चरणों का मैं भजन करता रहता हूं॥ १३ ॥

अकण्ठेकलंकादनंगेभुजंगा-
दपाणौकपालादभालेऽनलाक्षात् ।
अमौलौशशांकादवामेकलत्रा-
दहं देवमन्यं न मन्ये न मन्ये ॥ १४ ॥

जिसके गले में हलाहल का कलंक है, जिसके शरीर पर भुजंग विराजमान है, हाथ में कपाल और मस्तक में अग्नि है, जटामुकुट में चंद्रमा है और वामांग में पार्वती विराजमान है

ऐसे देव को छोड़कर मैं अन्य किसी को नहीं मानता और नहीं मानता ॥ १४ ॥

६—मंदालसा का पुत्र को उपदेश ।

उपजाति वृत्तम् ।

शुद्धोसि बुद्धोसि निरंजनोसि
संसारमायापरिवर्जितोसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मंदालसोल्लापमुवाच पुत्रम् ॥ १ ॥

मन्दालसा ने पुत्र को उपदेश दिया—हे पुत्र ! तू शुद्ध है, चैतन्य स्वरूप है, निरंजन है संसार रूपी माया से रहित है इसलिये संसार स्वप्नरूपी मोह निद्रा को त्याग ॥ १ ॥

शुद्धोसि रे तात न तेस्ति नाम-
कृतं हि तत्कल्पनयाधुनैव ।

पंचात्मकं देहमिदं न तेस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ॥ २ ॥

हे तात ! तू शुद्ध स्वरूप है और तेरा नाम भी नहीं है। वह नाम अभी कल्पना से रक्खा गया है। पंच भौतिक यह शरीर तेरा नहीं है और न तू उसका है, फिर तू क्यों रोता है ॥ २ ॥

न वै भवान् रोदिति विश्वजन्मा
शब्दोयमासाद्य महीशसूनुम् ।
विकल्प्यमानो विविधैर्गुणैस्ते
गुणाश्च भौताः सकलेन्द्रियेषु ॥ ३ ॥

तुम जो समस्त विश्व के जीवन रूप हो रोते नहीं हो। शब्द ही राजपुत्र को प्राप्त होकर नाना गुणों से विकल्प को प्राप्त होता है और वे भौतिक गुण ही सब इंद्रियों में विकल्प को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भूतानि भूतैः परिदुर्बलानि
वृद्धिं समायांति यथेह पुंसः ।
अन्नाम्बुपानादिभिरेव तस्मात्
न तेस्ति वृद्धिर्नच तेस्ति हानिः ॥ ४ ॥

भूत भूतों करके वृद्धि तथा क्षीणता को प्राप्त होते हैं। ये पुरुष जो अन्न जलादिक भोजन से वृद्धि तथा क्षीणता को प्राप्त

होते हैं, वह ऐसा ही है इसलिये, इससे न तेरी वृद्धि है, न हानि है ॥ ४ ॥

त्वं कंचुके शीर्यमाणे निजेस्मिन्
तस्मिन्देहे मूढतां मा व्रजेथाः ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेत-
न्मृदादिभिः कंचुकस्ते पिनद्धः ॥ ५ ॥

हाड़ मांस रूप यह देह पुण्य पाप रूप कर्मों से उत्पन्न हुआ पृथ्वी आदि से व्याप्त है । इस नाश वाली कंचुकरूप देह में आत्म बुद्धि करके मूढ़ता को मत प्राप्त हो ॥ ५ ॥

तातेति किंचित्तनयेति किंचि-
दंबेति किंचिद्दयितेति किंचित् ।
ममेति किंचिन्न ममेति किंचि-
त्त्वं भूतसंघं बहु मा नयेथाः ॥ ६ ॥

किसी को पिता, किसी को पुत्र, किसी को माता, किसी को स्त्री, किसी को मेरा, किसी को मेरा नहीं, इस प्रकार भूतों के समुदाय को तू अपने पास अधिक मत अपना ॥ ६ ॥

सुखानि दुःखोपशमाय भोगान्
सुखाय जानाति विमूढचेताः ।

तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि
जानाति विद्वानविमूढ चेताः ॥ ७ ॥

मूढ़ मनुष्य विषयजन्य सुखों को दुःख की निवृत्ति के अर्थ जान कर भोगों को सुख रूप मानता है और विद्वान् पुरुष विषयों से होने वाले उन्हीं दुःखों को सुख रूप जानता है यानी मोक्ष प्राप्ति के अर्थ जानता है ॥ ७ ॥

हासोस्थिसंदर्शनमक्षियुग्म–
मत्युज्ज्वलं तत्कलुषं वसायाः ।
कुचादि पीनं पिशितः घनं तत्
स्थानं रतेः किं नरको न योषित् ॥ ८ ॥

हँसने में हड्डियों का दर्शन होता है, अति सुन्दर दोनों नेत्र चर्बी से मलिन हैं, पीनस्तन बहुत सा मांस है, क्या स्त्री का रति का स्थान नरक नहीं है ? अर्थात् अवश्य है ॥ ८ ॥

यानं क्षितौ तत्र गतश्च देहो
देहेपि चान्यः पुरुषो निविष्ठः ।
ममत्वमुर्व्यां न यथा तथास्मिन्
देहेतिमात्रं बत मूढतैषा ॥ ९ ॥

वाहन पृथिवी में स्थित है, उसमें शरीर स्थित है, उस देह में अन्य पुरुष स्थित है, जैसे कोई पृथिवी और वाहन में ममता नहीं करता और यदि इस देह में आत्म बुद्धि करता है तो वह एक मूर्खता की पराकाष्ठा है ॥ ९ ॥

१०—हस्तामलक ।

श्रीवली नाम के ग्राम में प्रभाकर नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह निष्ठा वाला, शास्त्र को जानने वाला और उत्तम बुद्धि वाला था। उसके यहां पुत्र रूप से हस्तामलक का जन्म हुआ था। जन्म से ही इस बालक की चेष्टा जड़ के समान थी। जब स्वामी शंकराचार्य विचरते हुए उस ग्राम में पहुँचे तब प्रभाकर अपने जड़ पुत्र को लेकर उनके पास पहुँचा और उसका शिर पकड़ कर उनके चरणों पर झुका दिया। पुत्र चरणों पर पड़ा रहा, उठा नहीं। जब शंकराचार्य ने बालक को हाथ पकड़ कर उठाया तब प्रभाकर कहने लगा "हे प्रभो, इस मेरे पुत्र को जड़ता किस प्रकार प्राप्त हुई है ? इसका जन्म हुए तेरह वर्ष हो गये हैं तो भी यह अभी तक कुछ समझता ही नहीं। न तो इसने वेद पढ़ा है, न अक्षर ही लिख सकता है। ऐसा होते हुए भी मैंने इसे

यज्ञोपवीत दे दिया है। जब साथ के लड़के इसे खेलने की इच्छा से बुलाते हैं तो यह खेलने को भी नहीं जाता। कई लड़के इसे जड़ देखकर मारते हैं तो इसे क्रोध नहीं आता। कभी भोजन करता है और कभी नहीं भी करता। मेरा कहा नहीं मानता, स्वेच्छाचारी रहता है और अपनी प्रारब्ध से ही बढ़ता है।" यह सुन कर आचार्य ने कहा "हे बालक, तू जड़ के समान किस प्रकार चेष्टा करता है?" इसके उत्तर में लड़के ने जो कुछ कहा, वह हस्तामलक स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रथम श्लोक प्रश्न का है। ज्ञान प्रत्यक्ष होने के कारण शंकराचार्य ने उस लड़के का नाम हस्तामलक रक्खा। उसकी स्थिति शंकराचार्य के सब शिष्यों से विशेष थी।

इन्द्र वज्रा छन्द।

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गंता
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतन्मयोक्तं वद चार्भकत्वं
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि ॥ १ ॥

हे बालक, तू कौन है? किसका पुत्र है? कहां जाने वाला है? तेरा नाम क्या है और तू कहां से आया है? हे बालक, मेरी प्रसन्नता के लिये मैंने जो पूछा है, उसका उत्तर दे। तू मेरी प्रीति को विशेष बढ़ाने वाला है॥ १॥

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥ २ ॥

मैं मनुष्य नहीं हूं, देव और यक्ष नहीं हूं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं हूं, न ब्रह्मचारी हूं, न गृहस्थ हूं, न वानप्रस्थ हूं, न संन्यासी हूं, मैं स्वयं ज्ञान स्वरूप हूं ॥ २ ॥

भुजंग प्रयात् छन्द ।

निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ
निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः ।
रविर्लोकचेष्टानिमित्तं यथा यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ३ ॥

जो मन और नेत्रादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण रूप है, जो सम्पूर्ण उपाधियों से रहित है, आकाश के समान निर्मल है तथा जैसे लोकों की प्रवृत्ति का कारण रूप सूर्य है, इसी प्रकार जो सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण रूप नित्य प्राप्त स्वरूप है वह आत्मा मैं हूं ॥ ३ ॥

यमग्न्युष्णवन्नित्यबोधस्वरूपं
मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि ।
प्रवर्तंत आश्रित्य निष्कंपमेकं
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ४ ॥

जैसे अग्नि में उष्णता रहती है तैसे ही अचंचल एक नित्य बोध स्वरूप में चैतन्यता नित्य रहती है, उसका आश्रय करके बोध रहित मन, नेत्रादि इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं, ऐसा वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ४ ॥

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो
मुखत्वात्पृथकत्वेन नैवास्तु वस्तु ।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपितद्व-
त्स नित्योपलब्धि स्वरूपोऽहमात्मा ॥ ५ ॥

जैसे दर्पण में दीखते हुए मुख का आभास वस्तुतः मुख से भिन्न नहीं है, तैसे ही बुद्धि रूप दर्पण में चैतन्य का आभास जीव रूप से प्रतीत होता है, वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ५ ॥

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम् ।

तथा धीवियोगे निराभासको यः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ६ ॥

जैसे दर्पण के अभाव से दर्पण में पड़े हुए मुख के प्रतिबिम्ब का अभाव होता है। एक मुख ही निर्विकल्प रूप से रहता है, वैसे ही बुद्धि के वियोग से आभास रहित जो आत्मा रहता है, वही नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ६ ॥

मनश्चक्षुरादेर्वियुक्तः स्वयं यो
मनश्चक्षुरादेर्मनश्चक्षुरादिः ।
मनश्चक्षुरादेरगम्यस्वरूपः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ७ ॥

जो स्वयम् मन और नेत्रादि इन्द्रियोंसे भिन्न है, जो मन का मन और नेत्र आदि का नेत्र आदि है, तथा मन और नेत्रादि इन्द्रियों से न जाना जाय ऐसा है, वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ७ ॥

य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः
प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु ।
शरावोदकस्थो यथा भानुरेकः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ८ ॥

जो अकेला अपने चैतन्य रूप से प्रकाशता है प्रकाश स्वरूप होते हुए भी जो बुद्धियों में नानात्व से भासता है। जैसे जल

के भरे हुए मटकों में एक सूर्य होता है इसी प्रकार जो एक स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वरूप बुद्धियों में अनेकों के समान दीखता है, वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूँ ॥ ८ ॥

यथाऽनेकचक्षुः प्रकाशो रविर्न
क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम् ।
अनेका धियो यस्तथैकः प्रबोधः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य अनेक नेत्रों को क्रम से प्रकाश न करता हुआ एक साथ ही प्रकाश करता है तैसे ही अनेक बुद्धियों को एक ही वार प्रबोध देने वाला नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ९ ॥

विवस्वत्प्रभातं यथा रूपमक्षं
प्रगृह्णातिनाऽऽभातमेवं विवस्वान् ।
यदाभात आभासयत्यक्षमेकः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ १० ॥

जैसे सूर्य के प्रकाश किये हुए रूप को नेत्र ग्रहण करता है– देख सकता है परन्तु सूर्य के प्रकाश न किये हुए रूप को देख नहीं सकता तैसे ही सूर्य भी जिसके प्रकाश से प्रकाशित होता है ऐसा वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ १० ॥

यथा सूर्य एकोऽप्यनेकश्चलासु
स्थिरास्वप्यनन्तद्विभाव्यस्वरूपः ।
चलासु प्रभिन्ना सुधीष्वेक एव
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ ११ ॥

जैसे एक सूर्य चंचल और स्थिर जल के भरे हुए मटकों में भिन्न २ दीखता है तैसे ही चंचल और भिन्न प्रकार की बुद्धियों में रहा हुआ नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ११ ॥

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ १२ ॥

जैसे मेघ से आच्छादित हुई दृष्टि से जड़ मनुष्य मेघ से ढके हुए सूर्य को कान्ति रहित मानता है तैसे ही मूढ़ दृष्टि वाले को आत्मा बद्ध न होते हुए बद्ध दीखता है, वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ १२ ॥

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं
समस्तानि वस्तूनि यं न स्पृशन्ति ।

नियद्वत्सदा शुद्धमच्छस्वरूपः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ १३ ॥

जैसे सब मणकों में धागा पोया हुआ है, धागे का मेल मणकों से नहीं होता तैसे ही जिसे सब वस्तुओं का स्पर्श नहीं होता, जो आकाश के समान शुद्ध और निर्मल स्वरूप है वह नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ १३ ॥

उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां
तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि ।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं
तथा चञ्चलत्वं तवापीह विष्णो ॥ १४ ॥

जैसे उत्तम और निर्मल मणियों का उपाधि से भेद होता है, तैसे ही जिसका भेद बुद्धि के भेद से दीखता है। जैसे अचल ऐसी चन्द्र प्रभा का जल में चंचलपना होता है तैसे ही हे विष्णो ! आपमें भी उपाधि करके चंचलत्व है।

११—सत्य सिद्धान्त ।

शार्दूल विक्रीडित छन्द ।

शैवाः पाशुपता महाव्रतधराः
काली मुखा जंगमाः
शाक्ताः कौल कुलार्चनादि निरताः
कापालिकाः शाम्भवाः ।
येऽज्ञाः कृत्रिम मन्त्र तन्त्र निरता-
स्ते तत्वतो वञ्चिता-
स्तेषामल्पमिहैकमेवहि फलं
सत्यं न मोक्षः परः ॥ १ ॥

महान् व्रत को धारण करने वाले, पशुपति की उपासना करने वाले शैव, कालिका को मानने वाले जंगम, कुल परंपरा से चले आये हुए पूजन अर्चनादि में प्रीति वाले शाक्त, शंभु की उपासना करने वाले कापालिक और कृत्रिम शावरादि मन्त्र तन्त्रों में प्रीति वाले जो अज्ञानी वे सब ही तत्त्व ज्ञान से वंचित हुए हैं, उनको इस लोक में ही अल्प फल की प्राप्ति होती

है, परम उत्कृष्ट कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यह सत्य सिद्धान्त है।

चार्वाकाश्चतुराः स्वधर्म निपुणा
देहात्म वादे रता
नाना तर्क कुतर्क भाव सहिता
निष्ठा परास्तार्किकाः।
वेदार्थ प्रतिपादकाः सुकुशलाः
कर्तेति नैयायिका-
स्तेषां स्वल्प फलं भवेत्तु सततं
सत्यं न मोक्षः परः ॥ २ ॥

'देह ही आत्मा है' ऐसा वाद करने वाले स्वधर्म में निपुण ऐसे चार्वाक, सद्धेतु दर्शन आदि जो अनेक तर्क और व्यभिचारी हेतु दर्शन रूप जो अनेक कुतर्क हैं, उनके विवेचन के अनुसार सप्त पदार्थों की भावना और निष्ठा वाले तर्क शास्त्र के कर्ता कणाद मुनि और वेद प्रतिपाद्यार्थ जो ईश्वर उसके प्रतिपादन करने में कुशल और जीव को कर्ता कहने वाले जो गौतम उन सब को अपने २ मत के अनुसार अनुष्ठान करने से थोड़ा फल प्राप्त होता है कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यह सत्य सिद्धान्त है ॥ २ ॥

कर्माकर्मविकर्म बोध जनकाः
कर्मार्थ मीमांसकाः
सांख्यास्त्यागपराः सदा विविदिषा
संन्यासिन स्नातकाः ।
योगाङ्गाष्टक बोधक प्रति भटाः
पातञ्जला न्यायकाः
योग ज्ञानमिदं प्रबोध जनकं
सत्यं न मोक्षः परः ॥ ३ ॥

मीमांसक कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनों के बोध को कराने वाले कर्म परायण हैं, त्वं पदार्थ के बोध के निमित्त सांख्य शास्त्र वाले त्याग परायण हैं, संन्यासी और ब्रह्मचारी ज्ञान के लिये विशेष इच्छा करने वाले हैं, न्याय कर्ता पातंजल अष्टांग योग के बोध कराने में शूरवीर हैं। यह योग का ज्ञान प्रबोध का देने वाला है परन्तु उत्कृष्ट मोक्ष का देने वाला नहीं है, यह सत्य सिद्धान्त है ॥ ३ ॥

वेदान्ती बहु तर्ककर्कश मति-
श्चाद्वैत सम्बोधको
नाना वाद विवादिनो न निपुणो
विज्ञान बोधात्मकाः ।

कर्तारं प्रवदन्ति चैव यवनाः
पापे रता निर्दया ।
विप्रा वेद रताः समत्व विरताः
सत्यं न मोक्षः परः ॥ ४ ॥

अद्वैत को बोधन करने वाले, तर्क करने में तीव्र बुद्धि वाले, नाना प्रकार के वाद विवाद करने में निपुण, आत्मा के बोधक आभास रूप विज्ञान वाले वेदान्ती, आत्मा को कर्ता भोक्ता कहने वाले. पाप में प्रेम वाले अत्यन्त निर्दयी यवन और वेद में प्रीति वाले समानता से रहित ब्राह्मण परम मोक्ष को प्राप्त नहीं होते, यह सत्य सिद्धान्त है ॥ ४ ॥

नाना चित्रविचित्र वेष शरणा
नाना मते भ्रामका
नाना तीर्थ निषेवका जपपरा
मौन्य स्थिता नित्यशः ।
सर्वे चोदर सेवकास्त्वभिमता
वादे विवादे रताः
ज्ञानान्मुक्तिरिदं वदन्ति मुनय-
स्तत्प्राप्य सा दुर्लभा ॥ ५ ॥

नाना प्रकार के चित्र विचित्र वेष धारण करने वाले, नाना मतों के बीच में भ्रमण करने वाले, नाना तीर्थों का निरन्तर सेवन करने वाले, हमेशा मौन रखने वाले, अपनी बुद्धि के अनुसार वाद विवाद में प्रीति करने वाले; ये सब पेट के ही चाकर हैं परन्तु 'ज्ञान करके ही मुक्ति होती है' यह कहने वाले ब्रह्मनिष्ठ मुनि की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि ऐसा ज्ञान अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

१२—दक्षिणामूर्ति स्तोत्र ।
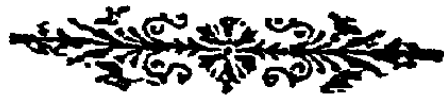
शार्दूल विक्रीडित छन्द ।

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी-
तुल्यं निजांतर्गतं ।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवो-
द्भूतं यथा निद्रया ॥

यः साक्षात्कुरुते प्रबोध समये
स्वात्मानमेवाद्वयम् ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ १ ॥

दर्पण में दीखती हुई नगरी के समान जैसे निद्रा दोष करके अपने ही भीतर जगत् दिखाई देता है तैसे ही माया दोष करके बाहर उत्पन्न हुए के समान आत्मा में दीखता हुआ जो प्रबोध के समय में अद्वय रूप अपने आत्मा का साक्षात्कार करता है ऐसे श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ १ ॥

बीजस्यांतरिवांकुरो जगदिदं
प्राङ्निर्विकल्पं पुन-
र्मायाकल्पितदेशकालकलना
वैचित्र्यचित्रीकृतम् ॥
मायावीव विजृंभयत्यपि महा-
योगीव यः स्वेच्छया ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ २ ॥

जैसे बीज के भीतर अङ्कुर रहता है इसी प्रकार यह जगत् पूर्व में निर्विकल्प था, फिर माया करके कल्पित देश काल की कल्पना विचित्रता करके चित्र के समान की गई। जो जादूगर और महायोगी के समान स्वइच्छा करके विस्तार विलास को करता है, उस श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ २ ॥

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्
कल्पार्थकं भासते ।
साक्षात्तत्त्वमसीति वेदवचसा
यो बोधयत्याश्रितान् ॥
यत्साक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरा-
वृत्तिर्भवांभोनिधौ ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ३ ॥

जिसका स्फुरण सत्स्वरूप हुआ असत् के समान अर्थों में पोया हुआ भासता है और जो तत्त्वमसि इस वेद वाक्य से शरणागत को साक्षात् बोधन करता है और जिसके साक्षात्कार से संसार में फिर से जन्म नहीं होता, ऐसे श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ३ ॥

नानाछिद्रघटोदरस्थितमहा-
दीपप्रभाभास्वरं ।
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरण-
द्वारा बहिः स्पंदते ॥
जानामीति तमेव भांतमनुभा-
त्येतत्समस्तं जगत् ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ४ ॥

छोटे छोटे छेद वाले घट के भीतर बड़े दीपक के प्रकाश के समान प्रकाश वाला जिसका ज्ञान चक्षु आदि करण से बाहर स्फुरता है, मैं जानता हूं कि उसके भास होने के बाद सब जगत् भासता है ऐसे श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ४ ॥

देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां
बुद्धिं च शून्यं विदुः ।
स्त्रीबालांधजडोपमास्त्वहमिति
भ्रांता भृशं वादिनः ॥

मायाशक्तिविलासकल्पितमहा-
व्यामोहसंहारिणे ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ५ ॥

स्त्री, बालक, अन्ध और जड़ की उपमा वाले अति वादी भ्रांत पुरुष तो देह, प्राण, इन्द्रिय, चंचल बुद्धि और शून्य को मैं हूँ ऐसा जानते हैं, ऐसी माया शक्ति के कार्य रूप महामोह को नाश करने वाले श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ५ ॥

राहुग्रस्तदिवाकरेंदुसदृशो
मायासमाच्छादनात् ।
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो
योऽभूत्सुषुप्तः पुमान् ॥
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये
य प्रत्यभिज्ञायते ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ६ ॥

राहु करके ग्रसित सूर्य और चन्द्र के समान माया करके ढका हुआ होने से सन्मात्र रूप जो पुरुष है वह सब करणों (इन्द्रिय और अन्तःकरण) को विलय करके सुषुप्त होता है और जो जाग्रत होकर 'मैं पूर्व में सोया था' ऐसा कहता है, इस प्रकार के ज्ञान को जो प्रत्यक्ष करता है, उस श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ६ ॥

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा
सर्वास्ववस्थास्वपि ।
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमि-
त्यंतः स्फुरंतं सदा ॥
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां
यो भद्रया मुद्रया ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ७ ॥

बाल्य आदि तथा जाग्रत आदि सब भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वर्तते हुए 'मैं हूँ' ऐसा सदा भीतर में स्फुरने वाले अपने आत्मा को भद्रा मुद्रा को धारण करके जो भजन करने वालों पर प्रकट करता है, उस श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ७ ॥

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया
स्वस्वामिसंबंधतः ।
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपु-
त्राद्यात्मना भेदतः ॥
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो
मायापरिभ्रामितस् ।
तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ८ ॥

जो यह पुरुष माया करके चारों तरफ भ्रमता है, स्वप्न में और जाग्रत में कार्य कारण के भाव करके स्वस्वामी संबंध से शिष्य आचार्य के भाव से तथा पिता पुत्र आदिक स्वस्वरूप के भेद से विश्व को जानता है. उस श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ८ ॥

भूरंभास्यनलोऽनिलोऽवरमह-
र्नाथो हिमांशुः पुमा-
नित्याभाति चराचरात्मकमिदं
यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ॥

नान्यत्किंचन विद्यते विमृशतां
यस्मात् परस्माद्विभो-
स्तस्मै श्रीगुरु मूर्तये नम इदं
श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ९ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और पुरुष ऐसे चर अचर स्वरूप जो आठ मूर्ति स्वरूप भासता है और विचार करने वाले पुरुष को जिस विभु परमात्मा से भिन्न कुछ भी विद्यमान नहीं दीखता, उस श्रीगुरु मूर्ति रूप श्रीदक्षिणा मूर्ति को यह नमस्कार है ॥ ९ ॥

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं
यस्मादमुष्मिंस्तवे ।
तेनास्य श्रवणात्तथार्थमनना-
द्ध्यानाच्च संकीर्तनात् ॥
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं
स्यादीश्वरत्वं स्वतः ।
सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं
चैश्वर्यमव्याहतम् ॥ १० ॥

इस स्तोत्र में ऐसा यह सर्वात्म भाव स्पष्ट किया है इससे इसका श्रवण, अर्थ का मनन, ध्यान और कीर्तन करने से सर्वात्म भाव रूप महा विभूति से ईश्वर भाव स्वतः सिद्ध होता है, पीछे आठ प्रकार के परिणाम को प्राप्त हुए अखंड ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

१३—परा पूजा।

अनुष्टुप छन्द।

पूर्णस्यावाहनं कुत्र
सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च
शुद्धस्याचमनं कुतः ॥ १ ॥

पूर्ण–सर्वव्यापक का आवाहन–बुलाना कहां हो और सबके आधार का आसन, स्वच्छ का पाद्य और अर्घ्य और शुद्ध का आचमन कहां से हो?

आवाहन-बुलाना उसका हो सकता है जो किसी स्थान पर हो और किसी स्थान पर न हो परमात्म तत्त्व जो सब

स्थान पर पूर्ण-व्यापक है, उसका आवाहन कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। आसन बैठने को होता है और बैठने वाले के लिये आधार-सहारा रूप होता है, परमात्म तत्त्व जो सब का आधार है, उसे किसका आसन दिया जाय ? किसी का नहीं। पाद्य और अर्घ्य स्वच्छ करने के लिये देते हैं परमात्मा जो नित्य स्वच्छ है, वह किससे स्वच्छ हो सकता है ? किसी से नहीं; इसलिये उसके लिये पाद्य और अर्घ्य की आवश्यकता नहीं है। आचमन मुख शुद्ध करने को दिया जाता है परमात्मा जो शुद्ध है उसे आचमन से क्या प्रयोजन है, कुछ नहीं ॥ १ ॥

निर्मलस्य कुतः स्नानं
वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निरालम्बस्योपवीतं
पुष्पं निर्वासनस्य च ॥ २ ॥

निर्मल को स्नान कराने से क्या, ब्रह्मांडभर का जो उदर है उसको वस्त्र क्या, आलम्बन रहित को यज्ञोपवीत-जनेऊ से क्या और वासना रहित को पुष्प क्या ?

स्नान मल शुद्ध करने के लिये होता है परमात्मा जो मल रहित है उसको स्नान से क्या प्रयोजन ? कुछ नहीं। वस्त्र शरीर को ढकने के लिये होता है परमात्मा जो ब्रह्मांड भर का उदर है-जिसने ब्रह्मांड भर को ढांक रक्खा है, उसको वस्त्र से क्या प्रयोजन कुछ नहीं। यज्ञोपवीत देवताओं के पूजन के

लिये पहिना जाता है, जिसको किसी वस्तु का आलम्बन-इच्छा होती है, वह ही देवताओं का पूजन करता है, परमात्मा जो आलम्बन रहित है उसको यज्ञोपवीत से क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं। जिसको सुगंधादि की वासना होती है, वह फूल सूँघता है, परमात्मा जो वासना रहित है उसको पुष्प से क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं ॥ २ ॥

निर्लेपस्य कुतो गंधो
रम्यस्याभरणं कुतः ।
नित्यतृप्तस्य नैवेद्य-
स्तांबूलं च कुतो विभोः ॥ ३ ॥

निर्लेप के लिये गन्ध कौनसा, शोभायमान के लिये आभूषण कौनसा ? नित्य तृप्त के लिये नैवेद्य कौनसा और विभु के लिये तांबूल-पान कौनसा ?

गंध प्रसन्नता के लिये सूंघते हैं, परमात्मा जो सूंघता नहीं निर्लेप है उसको गंध कौनसा हो ? कोई नहीं। आभूषण शोभा बढ़ाने के लिये होते हैं, परमात्मा स्वयं शोभायमान है, उसको आभूषण पहिनाने से क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं। नैवेद्य तृप्ति के लिये होता है, परमात्मा जो नित्य तृप्त है सारे ब्रह्मांड को तृप्त करता है, उसको नैवेद्य से क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं। तांबूल से मुख शुद्ध होता है—शरीर में रक्त बढ़ कर देह पुष्ट होती है, परमात्मा जो विभु है उसको तांबूल से क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं ॥ ३ ॥

प्रदक्षिणा ह्यनंतस्य
ह्यद्वयस्य कुतो नतिः ।
वेदवाक्यैरवेद्यस्य
कुतः स्तोत्रं विधीयते ॥ ४ ॥

अनन्त की प्रदक्षिणा और अद्वय-द्वितीय रहित को नमस्कार किस प्रकार हो? जो वेद वाक्यों से अवेद्य है जाना नहीं जाता उसकी स्तुति किस प्रकार हो?

जिसका अन्त हो, जिसके पास फिरने का स्थान हो उसकी प्रदक्षिणा हो सकती है, परमात्मा का अन्त नहीं है तो उसकी प्रदक्षिणा किस प्रकार हो? नहीं हो सकती। नमस्कार दूसरे को किया जाता है परमात्मा एक है अपना आप है तो नमस्कार किस प्रकार हो? नहीं हो सकता। जिसको जानते हों जिसमें नाम, रूप, गुण और क्रिया हो उसकी स्तुति हो सकती है, परमात्मा वेद वाक्यों से भी जाना नहीं जाता तो उसकी स्तुति किस प्रकार हो? नहीं हो सकती। वह स्तुति का विषय नहीं है ॥ ४ ॥

स्वयं प्रकाशमानस्य
कुतो नीराजनं विभोः ।
अंतर्बहिश्च पूर्णस्य
कथमुद्वासनं भवेत् ॥ ५ ॥

स्वयं प्रकाशमान और विभु के लिये नीराजन-दीपक कौनसा। बाहर और भीतर भरे हुए का उद्वासन-विसर्जन किस प्रकार हो?

नीराजन-दीपक प्रकाश के लिये और आने जाने के लिये होता है, परमात्मा स्वयं प्रकाशमान और विभु-व्यापक है. हाँ आता जाता नहीं उसके लिये दीपक कौनसा हो? कोई नहीं। विसर्जन व्यक्ति का होता है, परमात्मा बाहर और भीतर पूर्ण भरा हुआ है, उसका विसर्जन कैसे हो? किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

एवमेव परापूजा
सर्वावस्थासु सर्वदा।
एकबुद्ध्या तु देवेशे
विधेया ब्रह्मवित्तमैः ॥ ६ ॥

ब्रह्म वेत्ताओं को एक बुद्धि-भेद भाव रहित होकर देवेश-परमात्मा की परा पूजा सब अवस्थाओं में हमेशा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

❀ इति परापूजा समाप्तम् ❀
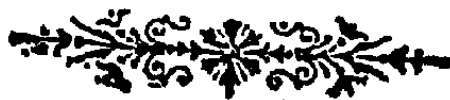
१४—विज्ञान नौका ।

भुजंग प्रयात छन्द ।

तपोयज्ञदानादिभिः शुद्ध बुद्धि-
विरक्तो नृपादौ पदे तुच्छबुद्धया ।
परित्यज्य सर्वं यदाप्नोति तत्त्वं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ १ ॥

तप, यज्ञ, दानादि से बुद्धि—अन्तःकरण को शुद्ध करके, नृप आदि पद को तुच्छ समझकर, उससे विरक्त होकर, सबको त्याग कर मनुष्य जिस परब्रह्म नित्य तत्त्व को प्राप्त होता है, वह मैं ही हूँ ।

दयालुं गुरुं ब्रह्मनिष्ठं प्रशांतं
समाराध्य मत्या विचार्य स्वरूपम् ।
यदाप्नोति तत्त्वं निदिध्यास्य विद्वान्-
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ २ ॥

दयालु, ब्रह्मनिष्ठ, प्रशांत गुरुकी अच्छी प्रकार से आराधना करके, बुद्धि से स्वरूप को विचार कर, निदिध्यासन करके

विद्वान् जिस परब्रह्म नित्य तत्त्व को प्राप्त होता है, वह मैं ही हूँ।

यदानन्दरूपं प्रकाशस्वरूपं
निरस्तप्रपंचं परिच्छेदशून्यम् ।
अहंब्रह्मवृत्येकगम्यं तुरीयं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ३ ॥

जो आनन्द रूप, प्रकाश—ज्ञान स्वरूप, प्रपंच से रहित, परिच्छेद से शून्य—व्यापक, अहं ब्रह्म—मैं ब्रह्म हूँ, मात्र इस वृत्ति से जानने योग्य, तुरीय—तीनों अवस्थाओं का साक्षी चौथा, परब्रह्म और नित्य है, वह ही मैं हूँ।

यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं
विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे ।
मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ४ ॥

जिसके अज्ञान से संपूर्ण विश्व—जगत् भासता है, जिस आत्म स्वरूप के प्रबोध—ज्ञान से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जो मन वाणी से अतीत—मन वाणी का अविषय, अत्यन्त शुद्ध, नित्य मुक्त, परब्रह्म और नित्य है वह ही मैं हूँ।

निषेधे कृते नेति नेतीति वाक्यैः
समाधिस्थितानां यदाभाति पूर्णम् ।
अवस्थात्रयातीतमेकं तुरीयम्
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ५ ॥

'नेति नेति' यह नहीं यह नहीं, इस प्रकार श्रुति वाक्यों से निषेध-करने से समाधि में स्थित योगियों को जो संपूर्ण भासता है, जो तीनों अवस्थाओं से अतीत एक तुरीय—चौथा परब्रह्म और नित्य है, वह ही मैं हूँ।

यदानन्दलेशैः समानन्दि विश्वं
यदाभाति सत्त्वे तदाभाति सर्वम् ।
यदालोचने रूपमन्यत्समस्तं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ६ ॥

जिसके थोड़े से आनंद से विश्व-जगत् आनन्द वाला होता है, जब वह अन्तःकरण में प्रकाश करता है, तब सब दिखाई देता है अन्य समस्त रूप जिसके नेत्र हैं, जो परब्रह्म और नित्य है, वह ही मैं हूँ।

अनंतं विभुं सर्वयोनिं निरीहं
शिवं संगहीनं यदोंकारगम्यम् ।

निराकारमत्युज्ज्वलं मृत्युहीनं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ७ ॥

जो अन्त रहित, विभु, व्यापक, सर्व योनि रूप, चेष्टा रहित, शिव रूप, संग रहित, जो ओंकार से समझने योग्य, आकार रहित, अत्यन्त शुद्ध, मरण से रहित, परब्रह्म और नित्य है, वह ही मैं हूँ।

यदानन्दसिन्धौ निमग्नः पुमान्स्या-
दविद्याविलासः समस्त प्रपंचः ।
यदा न स्फुरत्यद्भुतं यन्निमित्तं
परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ८ ॥

जिस आनन्द रूपी समुद्र में डूब कर मनुष्य के लिये समस्त प्रपंच अविद्या का विलास रूप हो जाता है जब कोई आश्चर्य मन में नहीं उठता, जो निमित्त-कारण, परब्रह्म और नित्य है, वह ही मैं हूँ।

स्वरूपानुसंधानरूपां स्तुतिं यः
पठेदादराद्भक्तिभावो मनुष्यः ।
शृणोतीह वा नित्यमुद्युक्तचित्तो
भवेद्विष्णुरत्रैव वेदप्रमाणात् ॥ ९ ॥

स्वरूप की अनुसंधान रूप इस स्तुति को जो भक्ति भाव वाला मनुष्य आदर से पढ़ता है अथवा नित्य चित्त लगाकर सुनता है वह यहां ही वेद के प्रमाण से विष्णु रूप हो जाता है।

उपजाति वृत्तम्।

विज्ञाननावं परिगृह्य कश्चि-
त्तरेद्यदज्ञानमयं भवाब्धिम्।
ज्ञानासिना यो हि विच्छिद्य तृष्णां
विष्णोः पदं याति स एव धन्यः ॥ १० ॥

जो विज्ञान नौका को ग्रहण करके ज्ञान रूपी तलवार से तृष्णा को काटकर अज्ञान रूप संसार समुद्र तर जाता है और विष्णु के पद को प्राप्त करता है; वह ही धन्य है।

❀ इति श्रीशंकराचार्य विरचिता विज्ञान नौका संपूर्णम् ❀

१५—चर्पट पञ्जरिका।

भज गोविन्दं भज गोविन्दं
भज गोविन्दं मूढ़ मते।

प्राप्ते सन्निहिते मरणे

नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे ॥ १ ॥

हे मूढ़ बुद्धि वाले ! तू गोविन्द ऐसे ईश्वर का भजन कर (जब) मरण का समय समीप आवेगा तब डुकृञ् करणे (डुकृञ् धातु करना इस अर्थ में है) ऐसा व्याकरण का पाठ तेरी रक्षा नहीं करेगा। (श्रीमान् शंकराचार्य एक समय जब काशी में गंगा स्नान करने को जा रहे थे तब एक बूढ़ा संन्यासी डुकृञ् करणे को याद कर रहा था, उसे देखकर शंकराचार्य ने यह पद कहा था। मतलब यह है कि शास्त्र पढ़ने में व्याकरण उपयोगी है। बुढ़ापे में व्याकरण पढ़े और फिर शास्त्र पढ़े इतना समय नहीं ऐसी अवस्था में तो जितना बन सके उतना ईश्वरका भजन करना चाहिये, भजन ही सहारा रूप है)।

भज गोविन्दा ! भज गोविन्दा।
मूढ़ मते रे ! भज गोविन्दा ॥
जब समय मरण का आवेगा।
नहिं डुकृञ् पाठ बचावेगा ॥ १ ॥

बालस्तावत्क्रीडासक्त-

स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।

वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः

परमेब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥ २ ॥

जब तक मनुष्य बालक होता है तब तक खेल कूद में लगा रहता है, जब तक युवान रहता है तब तक युवान स्त्री में

आसक्त रहता है और जब वृद्ध हो जाता है तब चिंताओं में डूबा रहता है परन्तु कोई परब्रह्म में आसक्त नहीं होता इसलिये हे मूढ़ बुद्धि वाले ! तू गोविन्द का भजन करले।

बाल्यावस्था खेल गँवावत ।
होय तरुण तरुणी मन भावत ॥
वृद्ध भये चिंता बढ़ि जावत ।
परं ब्रह्म कोई नहिं ध्यावत ॥ २ ॥ भज०

अंगं गलितं पलितं मुंडम्
दशनविहीनं जातं तुंडम् ।
वृद्धो याति गृहित्वा दंडम्
तदपि न मुंचत्याशा पिण्डम् ॥ ३ ॥ भज०

अङ्ग गल गया, शिर के बाल श्वेत हो गये, मुख दांत रहित पोपला हो गया, वृद्ध हुआ लाठी के सहारे चलता है तो भी तू आशा के पिण्ड को नहीं छोड़ता ! गोविन्द का भजन करले।

अंग गला शिर श्वेत भया है ।
दांत विना मुख बैठ गया है ॥
वृद्ध हुआ लाठी गहि चालत ।
तो भी आशा पिण्ड न त्यागत ॥ ३ ॥ भज०

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।

इह संसारे खलुदुस्तारे

कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ॥ ४ ॥ भज०

वारम्वार जन्म लेना पड़ता है, वारम्वार मरना पड़ता है और वारम्वार माता के उदर में सोना पड़ता है इसलिये हे मुरारि प्रभु ! इस दुस्तर संसार से मेरा उद्धार करो; (ऐसी प्रार्थना कर) गोविन्द का भजन कर।

फिर फिर जन्म मरण फिर होना।
फिर फिर जननि जठर में सोना ॥
यह भव सागर दुस्तर भारी।
कृपया करिये पार मुरारी ॥ ४ ॥ भज०

दिनरपि रजनी सायं प्रातः

शिशिरवसंतौ पुनरायातः।

कालः क्रीडति गच्छत्यायु-

स्तदपि न मुंचत्याशा वायुः ॥ ५ ॥ भज०

दिन होता है, रात होती है, सांझ होती है, सवेरा होता है, शिशिर वसन्त आदिक ऋतुयें वारम्वार आती हैं। इस प्रकार काल क्रीडा करता है और आयु चला जाता है तो भी आशा के पवन को नहीं छोड़ता है। हे मूढ़ मते ! गोविन्द का भजन कर ले।

होय दिवस निश सांझ सवेरा।
शिशिर वसंत लगावें फेरा ॥

खेलत काल घटत है आयू।
तदपि न त्यागत आशा वायू ॥ ५ ॥ भज०

जटिलो मुंडित लुंचित केशः
काषायांवरवहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यतिलोक
उदरनिमित्तं वहुकृतवेषः ॥ ६ ॥ भज०

शिर पर जटायें रखने वाला, शिर के संपूर्ण वालों को मुड़ाने वाला, नोंचे हुए वालों वाला, भगवां वस्त्र वाला, अनेक प्रकार के वेष धारण करने वाला, पेट भरने के लिये ही वहुत वेष धारण करता है, मूढ़ मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता। मतलव यह है कि सव प्रपंच देखता हुआ आप भी उसी ढोंग को करता है और ईश्वरको नहीं देखता, गोविन्दका भजन करले।

मुंडी लुंचित केश जटा धर।
वस्त्र रंगत वहु वेष धरत नर॥
जानत पर नहिं मूढ़ विचारत।
पेट भरन वहु वेष सँवारत ॥ ६ ॥ भज०

वयसि गते कः कामविकारः
शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥ ७ ॥ भज०

अवस्था चली जाने पर काम विकार-शक्ति नहीं रहती, पानी सूख जाने पर तालाब नहीं रहता, धन चले जाने पर परिवार नहीं रहता यानी धन के कारण से ही परिवार पीछे लगा रहता है, धन न होने से होता हुआ परिवार भी कहां है ? तैसे ही तत्त्व के जानने से संसार नहीं रहता इसलिये गोविन्द का भजन कर।

आयु नशे क्या काम विकारा।
जल सूखे सर में क्या सारा॥
द्रव्य नशे पर क्या परिवारा।
तत्त्व लखे पर क्या संसारा॥ ७॥ भज०

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षा तरुतलवास-
स्तदपि न मुंचत्याशा पाशः॥ ८॥ भज०

आगे अग्नि जलता है, पीछे धूप पड़ती है, रात को घोंटुओं के बीच में डाढ़ी को रख कर सोना पड़ता है, भिक्षा करने का पात्र न होने से हाथ ही भिक्षा पात्र है, पेड़ के नीचे सोना पड़ता है तो भी आशा की फांसी को नहीं छोड़ता ! गोविन्द का भजन कर।

अग्नि अगाड़ी धूप पिछाड़ी।
रात करे घोंटुन विच डाढ़ी॥
कर धरि खाता तरुतर बसता।
तो भी आशा पाश न तजता॥ ८॥ भज०

यावद्वित्तोपार्जनसक्त-
स्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाज्जर्जरभूतेदेहे
वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥ ९ ॥ भज०

मनुष्य जब तक धन कमा कर लाने में समर्थ होता है तब तक उसका परिवार—कुटुम्ब उसके आधीन रहता है—प्रीति रखता है और पीछे शरीर निर्बल होने से जब कमाने में असमर्थ होता है तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता इसलिये गोविन्द का भजन कर।

धन लाने में समरथ जब तक ।
प्रीति करें हैं घर के तब तक ॥
पीछे जब तनु जर्जर होई ।
घर में बात न पूछे कोई ॥ ९ ॥ भज०

रथ्याचर्पटविरचितकंथः
पुण्यापुण्यविवर्जितपंथः ।
न त्वं नाहं नायं लोक-
स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥ १० ॥ भज०

मार्ग में पड़े हुए चीथड़ों को बीन कर उनका कंथा बनाने वाला, पुण्य पाप के मार्ग को छोड़ने वाला, तू नहीं, मैं नहीं और यह लोक नहीं तो शोक क्यों करता है, गोविन्द का भजन कर।

चौहट चिथडन कंथा कीन्हा ।
पाप रु पुण्य रहित पथ लीन्हा ॥
नहिं तू नहिं मैं, नहिं यह लोका ।
तो किस हेतु कीजिये शोका ॥ १० ॥ भज०

नारीस्तनभरजघननिवेशं
दृष्ट्वा माया मोहावेशम् ।
एतन्मांसवसादिविकारं
मनसि विचारय वारंवारम् ॥ ११ ॥ भज०

नारी के पीन—स्तन और जघन (पेड़ू) की रचना को देखकर मिथ्या मोह का आवेश उत्पन्न होता है, ये मांस और चरवी आदिक के विकार हैं इस प्रकार मन में वारंवार विचार कर गोविन्द का भजन कर ।

नारि पयोधर पीन जघन को ।
देखते मोह मृषा हो मन को ॥
ये चरवी मांसादि विकारा ।
फिर फिर मन में करो विचारा ॥ ११ ॥ भज०

गेयं गीता नामसहस्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रं ।
नेयं सज्जननिकटे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तं ॥ १२ ॥ भज०

गीता और विष्णु सहस्र नाम को गाना चाहिये, विष्णु का सदा ध्यान करना चाहिये, सज्जन के पास चित्त को ले जाना चाहिये और दीनजनोंको दान देना चाहिये। गोविन्दका भजन कर।

सहस्र नाम जपि गीता गाओ।
श्रीपति का नित ध्यान लगाओ॥
संत निकट चित को ले जाओ।
दीन जनों में द्रव्य लुटाओ॥ १२॥

भगवद्गीता किंचिदधीता
गंगाजललवकणिकापीता।
येनाकारि मुरारेरर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चा॥ १३॥ भज०

जिसने भगवद्गीता का थोड़ा भी पाठ किया, जिसने थोड़े से भी गंगा जल का पान किया और जिसने मुरारि प्रभु की पूजा की, क्या यमराज उसकी चर्चा करता है? नहीं करता! इसलिये गोविन्द का भजन कर।

गीता का कुछ पाठ किया है।
थोड़ा गंगा नीर पिया है॥
जिसने करी मुरारी अर्चा।
क्या यम उसकी करता चर्चा॥ १३॥ भज०

कोहं कस्त्वं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः।

इति परिभावय सर्वमसारं
सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥ १४ ॥ भज०

मैं कौन हूँ, तू कौन है, कहां से आया हूँ, मेरी माता कौन है, मेरा पिता कौन है इसका विचार करके स्वप्न के समान जान सर्व का त्याग कर, सर्व नाम रूपात्मक जगत् को असार मान ले। गोविंद का भजन कर।

को तू को मैं कहँ से आया।
कौन पिता किस मा ने जाया॥
स्वप्न सम ये सब निर्धारो।
सार रहित सब जगत् विचारो ॥ १४ ॥ भज०

का ते कांता कस्तेपुत्रः
संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयात-
स्तत्त्वं चिंतय तदिदं भ्रातः ॥ १५ ॥ भज०

तेरी स्त्री कौन है, तेरा पुत्र कौन है, यह संसार अत्यन्त विचित्र है, तू किसका है और कहां से आया है? हे भाई! तू मन में यह विचार कर गोविन्द का भजन कर।

को तव पत्नी को तव सुत है।
यह संसार महा अद्भुत है॥
कहँ से आया, है तू किसका।
भाई! तत्त्व विचारो इसका ॥ १५ ॥ भज०

सुरतटिनीतरुमूलनिवासः
शय्या भूतल मजिनं वासः ।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः
कस्य सुखं न करोति विरागः ॥ १६ ॥ भज०

गंगा किनारे के वृक्ष की मूल में निवास करना, भूमि का विस्तर, मृग चर्म वस्त्र सब परिग्रह और भोग का त्याग, ऐसा वैराग्य किसको सुख नहीं देता ? यानी सब को सुख देता है इसलिये गोविन्द का भजन कर।

सुरसरि तरु की जड़ में पड़ना ।
शय्या भू मृग चर्म पहरना ॥
भोग तजे नहिं देवे लेवे ।
किसे विराग नहीं सुख देवे ॥ १६ ॥ भज०

❀ इति चर्पट पंजरिका समाप्तम् ❀
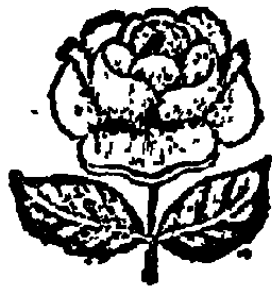
१६—मोह मुद्गर।
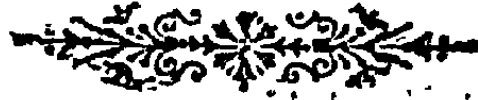
मूढ जहीहि धनागमतृष्णां
कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृष्णां।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं
वित्तं तेन विनोदय चित्तं ॥ १ ॥

हे मूढ़ ! धन की प्राप्ति की तृष्णा को छोड़ दे, हे सूक्ष्म बुद्धि वाले ! मन में संतोष रख, तेरे कर्मों से जो धन तुझे प्राप्त हो, उससे ही चित्त को शांत कर, विनोद को प्राप्त हो।

मूढ़ ! करे मत तृष्णा धन में।
रख संतोष विमल मति ! मन में॥
निज कर्मों से पावे जो धन।
रख उसमें ही सदा मगन मन ॥ १ ॥

का तव कांता कस्ते पुत्रः
संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयात-
स्तत्त्वं चिंतय तदिदं भ्रातः ॥ २ ॥

तेरी पत्नी कौन ? तेरा पुत्र कौन ? यह संसार अत्यंत ही विचित्र है, तू किसका है और कहां से आया है ? हे भाई ! इस तत्त्व का विचार कर।

को तव पत्नी को तव सुत है।
यह संसार महा अद्भुत है ॥
कहँ से आया है तू किसका।
भाई ! तत्त्व विचारो इसका ॥ २ ॥

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं
हरति निमेषात्कालः सर्वम् ।
मायामयमिदमखिलं हित्वा
ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा ॥ ३ ॥

धन, मनुष्य और यौवन का गर्व मत कर, एक क्षण में काल सब को हरण कर लेता है, मायामय इस सब जगत् को त्याग कर, ब्रह्म पद को जान कर उसमें शीघ्र प्रवेश कर।

गर्व न कर धन जन यौवन पर।
काल हरे सब लगे न क्षणभर ॥
त्यागो यह सब ही मायामय।
ब्रह्म तुरत लखि हो उसमें लय ॥ ३ ॥

नलिनीदलगतजलवत्तरलं
तद्वज्जीवनमतिशय चपलं ।

क्षणमपि सज्जन संगतिरेका

भवति भवार्णव तरणे नौका ॥ ४ ॥

कमल पत्र के ऊपर रहे हुए जल के समान जीवन अत्यंत चंचल है, एक क्षण मात्र की सज्जन की संगति भी संसार रूपी सागर के तरने को नौका रूप है।

चंचल जैसे नलिनी दल जल।
त्यों ही जीवन अति ही चंचल॥
नौका सम सज्जन की संगति।
क्षण में भव सागर से तारति ॥ ४ ॥

यावज्जननं तावन्मरणं

तावज्जननी जठरे शयनम्।

इति संसारे स्फुटतर दोषे

कथमिव मानव तव संतोषः ॥ ५ ॥

जब तक जन्मना है तब तक मरना है, और तब तक माता के उदर में सोना है, इस प्रकार प्रत्यक्ष दोष वाले संसार में हे मानव! तुझको कैसे संतोष है? अर्थात् तू किसमें संतोष मानता है।

जब तक जन्मे तब तक मरना।
तब तक जननि जठर में पड़ना॥
दोष प्रकट जग में भासे है।
नर! संतोष तुझे कैसे है॥ ५ ॥

दिनयामिन्यौ सायं प्रातः
शिशिर वसंतौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायु-
स्तदपि न मुंचत्याशावायुः ॥ ६ ॥

दिन रात, सांझ सवेरा, शिशिर और वसंत बारंबार आते हैं, काल क्रीडा करता है, आयु चला जाता है तो भी आशा रूपी वायु को नहीं छोड़ता ।

रात दिवस हो सांझ सवेरा ।
शिशिर वसंत लगावें फेरा ॥
खेलत काल उमर है भागत ।
तो भी आशा वायु न त्यागत ॥ ६ ॥

अंगं गलितं पलितं मुंडं
दशनविहीनं जातं तुंडं ।
कर धृत कम्पित शोभित दंडं
तदपि न मुंचत्याशा पिंडम् ॥ ७ ॥

शरीर गल गया, शिर सफेद हो गया, मुख में दांत नहीं रहे, कांपते हुए हाथ में पकड़ी हुई लकड़ी शोभा देती है तो भी आशा के पिंड को नहीं छोड़ता ।

अंग गला शिर श्वेत भया है।
दांत विना मुख बैठ गया है॥
कर कम्पित लाठी शोभित है।
तदपि न आशा पिंड तजत है॥ ७॥

सुरमन्दिरतरुमूलनिवासः
शय्या भूतल मजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः
कस्य सुखं न करोति विरागः॥ ८॥

देव मन्दिर या वृक्ष की मूल में निवास, पृथिवी शय्या, मृगचर्म का वस्त्र और सब प्रकार के परिग्रह और भोग का त्याग जिसमें है, ऐसा वैराग्य किसको सुख नहीं देता? सब को सुख देता है।

सुर मन्दिर तरु नीचे पड़ना।
शय्या भू मृगचर्म पहरना॥
भोग सभी तजि देय न लेवे।
किसे विराग नहीं सुख देवे॥ ८॥

शत्रौ मित्रे पुत्रे बंधौ
माकुरु यत्नं विग्रह संधौ।
भव समचित्तः सर्वत्र त्वं
वाञ्छस्यचिराद्यदिविष्णुत्वं॥ ९॥

यदि तू शीघ्र विष्णु पद प्राप्त करना चाहता है तो शत्रु, मित्र, पुत्र अथवा बंधु के साथ लड़ाई अथवा संधि का यत्न मत कर, सब जगह तू सम चित्त वाला हो।

रिपु, प्यारा, बेटा अरु भाई।
इन से मत कर संधि लड़ाई॥
निज चित से कर सब में समता।
जो तू विष्णु परम पद चहता॥ ९॥

अष्टकुलाचल सप्तसमुद्रा
ब्रह्म पुरंदर दिनकर रुद्राः।
न त्वं नाहं नायं लोक-
स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः॥ १९॥

आठ कुल पर्वत, सात समुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, रुद्र, तू, मैं और यह लोक नहीं है तो भी शोक किसलिये किया जाता है।

आठ कुलाचल सात समुद्रा।
ब्रह्मा इन्द्र दिवाकर रुद्रा॥
तू मैं और नहीं यह लोका।
तो किस कारण करता शोका॥ १०॥

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः
व्यर्थं कुप्यसि सर्वसहिष्णुः।

सर्वं पश्यहि माया जालं

सर्वत्रोत्सृज भेद ज्ञानं ॥ ११ ॥

तुझमें, मुझमें और अन्य सब स्थानों पर एक विष्णु ही है, तू मुझसे नाराज होकर क्यों क्रोध करता है ? इन सबको निश्चय माया जाल जान और सर्वत्र भेद ज्ञान को छोड़ दे।

तुझ, मुझ, सब में विष्णु विराजत ।
फिर क्यों मुझे वृथा हि सतावत ॥
माया जाल सभी यह जानो ।
भेद किसी में लेश न मानो ॥ ११ ॥

बालस्तावत्क्रीडा सक्त-

स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।

वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः

परमेब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥ १२ ॥

मनुष्य बाल्यावस्था में खेल में आसक्त रहता है, तरुण अवस्था में तरुणी में मन लगाता है, वृद्धावस्था में चिंता में डूब जाता है, परब्रह्म में कोई भी मन नहीं लगाता।

बालपने को खेल गंवावत ।
तरुण भये तरुणी मन भावत ॥
वृद्ध भये चिंता लिपटावत ।
परम ब्रह्म कोई नहिं ध्यावत ॥ १२ ॥

अर्थमनर्थं भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः
सर्वत्रैषा कथिता नीतिः ॥ १३ ॥

धन को नित्य अनर्थकारक जान, वस्तुतः उसमें कुछ भी सुख नहीं है क्योंकि धन वालों को पुत्र से भी भय रहता है, यह नियम सब जगह कहा है ।

धन को सदा अनर्थक मानो ।
उसमें सुख सत्य नहिं, जानो ॥
धन वाले सुत से भी डरते ।
अस नीती सब वर्णन करते ॥ १३ ॥

यावद्वित्तोपार्जनसक्त-
स्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
तदनु च जरया जर्जरदेहे
वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥ १४ ॥

जब तक धन कमाने में समर्थ है तब तक घर वाले प्रीति करते हैं पीछे बुढ़ापे में जब शरीर जर्जर हो जाता है तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता ।

धन लाने में समरथ जब तक।
प्रीति करें घर वाले तब तक॥
वृद्ध भये तनु जर्जर होई।
बात न पूछे घर में कोई॥ १४॥

कामं क्रोधं लोभं मोहं
त्यक्त्वात्मानं पश्यत कोऽहम्।
आत्मज्ञानविहीना मूढा-
स्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः॥ १५॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह को त्यागकर, 'मैं कौन हूं' इस प्रकार आत्मा को देख, आत्मज्ञान से रहित मूढ़ मनुष्य घोर नरक में रँधते हैं।

काम क्रोध लोभादिक तजिये।
'को मैं' इस विधि आतम भजिये॥
मूढ़ जिन्हें नहिं आतम ज्ञाना।
घोर नरक दुख भोगत नाना॥ १५॥

षोडशपंजरिकाभिरशेषः
शिष्याणां कथितोभ्युपदेशः।
येषां नैष करोति विवेकं
तेषां कः कुरुतामतिरेकम्॥ १६॥

इन सोलह पंजरिका-छन्दों द्वारा शिष्यों को जो संपूर्ण उपदेश दिया है उनसे जिनको विवेक प्राप्त न हो उनको विवेक कराने के लिये दूसरा कौन उपाय है? कोई नहीं।

सोलह पद पंजरिका गाया।
शिष्यों को उपदेश सुनाया॥
जिनको इनसे ज्ञान न होई।
उनके हित उपाय नहिं कोई॥ १६॥

❀ इति मोह मुद्गर संपूर्णम् ❀

१७—धन्याष्टकम्।

प्रहर्षणीवृत्तम्।

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिंद्रियाणां
तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम्।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमंति॥ १॥

जो इन्द्रियों को शांत करने वाला है वह ज्ञान है, जो पदार्थ उपनिषदों में निश्चित किया गया है वह ज्ञेय–जानने योग्य है, जिन्होंने इस प्रकार संसार में परमार्थ का निश्चय किया है, वे धन्य हैं! बाकी तो भ्रम रूपी घर में भ्रमण करते हैं।

वसंत तिलका वृत्तम्।

आदौ विजित्य विषयान्मदमोहराग
द्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः।
ज्ञात्वाऽमृतं समनुभूय परात्मविद्या
कांतासुखा बत गृहे विचरंति धन्याः ॥ २ ॥

आदि में विषयों को जीत कर, मद, मोह, राग, द्वेष आदि शत्रुगणों को राजयोग द्वारा वश करके, अमृत को जान कर और भली प्रकार अनुभव करके जो परमात्म विद्या रूप स्त्री के घर में सुख से विचरते हैं वे धन्य हैं।

त्यक्त्वा गृहे रतिमतो गतिहेतुभूता-
मात्मेच्छयोपनिषदर्थरसंपिबंतः।
वीतस्पृहा विषयभोगपदे विरक्ता
धन्याश्चरंति विजनेषु विरक्तसंगाः ॥ ३ ॥

अकल्याण का हेतु समझ कर घर की प्रीति को त्याग कर आत्मा की इच्छा करके उपनिषद् के पदार्थ–परमात्मा का जो रस पीते हैं, जो स्पृहा–इच्छा रहित हैं, विषय भोग से विरक्त हैं, जो संग रहित निर्जन स्थान में विचरते हैं, वे धन्य है।

त्यक्त्वा ममाहमिति बंधकरे पदे द्वे
मानावमानसदृशाः समदर्शिनश्च ।
कर्तारमन्यमवगम्य तदर्पितानि
कुर्वंति कर्मपरिपाकफलानि धन्याः ॥ ४ ॥

मम–मेरा, अहं–मैं इन बन्ध करने वाले दोनों पदों को त्याग कर, मान अपमान को समान जान कर और समदर्शी होकर, कर्ता-करने वाला अन्य को मान कर जो परिपाक रूपी कर्म के फलों को उसी को अर्पण करते हैं, वे धन्य हैं।

त्यक्त्वेषणात्रयमवेक्षितमोक्षमार्गा
भैक्ष्यामृतेन परिकल्पितदेहयात्राः ।
ज्योतिः परात्परतरं परमात्मसंज्ञं
धन्या द्विजा रहसि हृद्यवलोकयंति ॥ ५ ॥

तीनों ईषणाओं–धन, स्त्री और लोक की कामनाओं को त्याग कर मोक्ष मार्ग की इच्छा करते हुए, भिक्षा रूपी अमृत

से देह यात्रा को पूर्ण करते हुए पर से पर परमात्मा नाम की ज्योति को हृदय रूप एकांत देश में जो ब्राह्मण देखते हैं, वे धन्य हैं।

नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु
न स्त्री पुमान्न च नपुंसकमेकबीजम्।
यैर्ब्रह्म तत्समनुपासितमेकचित्ता
धन्या विरेजुरितरे भवपाशबद्धाः ॥ ६ ॥

जो असत् अथवा सत् नहीं है, जो सत् और असत् नहीं है, जो न महान् है, न अणु है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, जो एक बीज रूप है, ऐसे ब्रह्म की जिन्होंने एकाग्र चित्त होकर भली प्रकार उपासना की है, वे धन्य हैं और शोभा पाते हैं, दूसरे संसार रूपी पाश में बंधे हुए हैं।

अज्ञानपंकपरिमग्नमपेतसारं
दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम्।
संसारबंधनमनित्यमवेक्ष्य धन्या
ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयंति ॥ ७ ॥

अज्ञान रूपी कीचड़ से भरे हुए सार रहित, दुःख के घर, मरण, जन्म और जरा से युक्त, अनित्य संसार को

बंधन जान कर जो पुरुष ज्ञान रूपी तलवार से उस संसार बंधन को काट कर निश्चय को प्राप्त होते हैं–थिर बुद्धि वाले होते हैं, वे धन्य हैं।

शांतैरनन्यमतिभिर्मधुरस्वभावै-
रेकत्वनिश्चितमनोभिरपेत मोहैः।
साकं वनेषु विजितात्मपद स्वरूपं
शास्त्रेषु सम्यगनिशं विमृशंति धन्याः ॥८॥

अनन्य (एक सिवाय दूसरा नहीं ऐसी) बुद्धि वाले, मधुर स्वभाव वाले, एकत्व निश्चय किये हुए, मोह से रहित मन वाले, मन को जीतने वाले शांत पुरुष शास्त्र रूपी वन में हमेशा अपने यथार्थ स्वरूप का विचार करते हैं, वे धन्य हैं।

मालिनी वृत्तम्।

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी।
विषमिव विषयान्यो मन्यमानो दुरंतान्
जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति ॥९॥

जो सर्प के समान मनुष्यों के संयोग को छोड़ देता है, जो मृतक शरीर के समान सुन्दर नारी को छोड़ कर काम से

विरक्त होता है, जो विषयों को विष समान अन्त में दुःख देने वाले मानता है, वह परमहंस जय और मुक्ति भाव को प्राप्त करता है।

शार्दूल विक्रीडित वृत्तम्।

सम्पूर्णं जगदेव नंदनवनं
सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गांगं वारि समस्त वारिनिवहः
पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो
वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया
दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥ १० ॥

परब्रह्म के देखने पर उसके लिये संपूर्ण जगत् नन्दन वन हो जाता है, सब (वृक्ष) कल्पवृक्ष हो जाते हैं, सब जल समूह गंगा जल हो जाता है, सब क्रियायें पुण्य रूप हो जाती हैं प्राकृत अथवा संस्कृत सब वाक्य महावाक्य हो जाते हैं और सब विषय वस्तु की स्थिति रूप-ब्रह्म हो जाते हैं।

॥ इति धन्याष्टक स्तोत्रं संपूर्णम् ॥

१८—शुकाष्टक ।
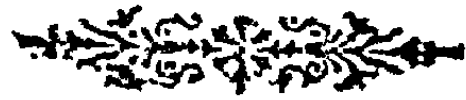
मन्दाक्रान्ता छन्द ।

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसंदेहवृत्तेः ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वाववोधं
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥ १ ॥

शब्द से परे और तीनों गुणों से रहित तत्त्व का बोध प्राप्त करने से जिसकी संदेह वृत्ति नष्ट हो जाती है, सर्व प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं, उसमें से भेद अभेद का विचार तत्क्षण जाता रहता है, उसके पुण्य पाप नष्ट हो जाते हैं, माया मोह का क्षय हो जाता है जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसको विधि क्या और निषेध क्या, उसके लिये विधि और निषेध दोनों नहीं हैं ।

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं
दृष्ट्वा पूर्णं स्वमिवसततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।

नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद् भिन्नरूप
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिःकोनिषेधः ॥ २॥

जिसने सब शरीरों में भीतर और बाहर स्थित, अपने ही समान सदा सब जगत् रूपी भाण्ड में स्थित, एक, पूर्ण आत्मा को देख लिया है, उसके लिये उस परमात्मा रूपी कारण के सिवाय दूसरा कार्य कुछ भी नहीं है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसके लिये विधि क्या और निषेध क्या—दोनों ही नहीं हैं।

हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हेममेवेति यद्वत्
क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बु मध्ये।
एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थे
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥ ३ ॥

जैसे सुवर्ण की बनी हुई चीज अग्नि में डालने से सुवर्ण ही हो जाती है, जैसे दूध दूध में डालने से एक रस होने से दूध ही हो जाता है, जैसे जल जल में डालने से जल ही हो जाता है इसी प्रकार सब त्वंपद—जीव तत्पदार्थ—ईश्वर-ब्रह्म में समान रसत्व के कारण ब्रह्म ही होता है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसके लिये विधि क्या और निषेध क्या—दोनों ही नहीं हैं।

यस्मिन्विश्वं सकलभुवनं सामरस्यैकभूतम्
उर्वीत्यापोऽनलमनिलखं जीवमेवंक्रमेण ।
यत्वाराब्धौ समरसतया सैन्धवैकत्वभूतम्
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥ ४ ॥

जैसे समुद्र खारी है, ऐसे ही नमक भी खारी है, इसलिये खारीपन दोनों में समान होने से नमक समुद्र रूप ही है इसी प्रकार इस (ब्रह्म) में सब भुवन तथा पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश तथा जीव एक रसत्व के कारण एक ब्रह्म ही है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसको विधि क्या और निषेध क्या—कोई नहीं।

यद्वल्लयोदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
तद्वज्जीवालयपरिगतौ सामरस्यैक भूताः ।
भेदातीतं परिलयगतं सच्चिदानन्दरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥५॥

जैसे नदी समुद्र में मिल कर एक रसत्व के कारण समुद्र रूप हो जाती है वैसे ही देह में रहा हुआ जीव एक रसत्व के कारण एक परमात्मा ही है, इस प्रकार भेद से रहित सर्वान्तर्यामी होने के कारण केवल एक सच्चिदानन्द रूप ही है। जो

तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसके लिये विधि क्या और निषेध क्या–दोनों ही नहीं हैं।

द्रष्ट्वावेद्यं परमथपदं स्वात्मबोधस्वरूपं
बुद्ध्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्वहिस्थम्।
भूत्वा नित्यं सदुदिततया स्वप्रकाशस्वरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥६॥

जानने योग्य, परमपद, स्वात्मबोध स्वरूप और सब शरीरों के भीतर बाहर एक ही स्थित आत्मा को देख कर और तत्त्व के उदय होने से स्वप्रकाश स्वरूप होकर जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है उसको विधि क्या और निषेध क्या–कोई नहीं हैं।

कार्याकार्ये किमपि सततं नैव कर्तृत्वमस्ति
जीवन्मुक्तस्थितिरवगतो दग्धवस्त्रावभासः।
एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो वियुक्तो
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥७॥

जिसका कार्य अकार्य में कभी कुछ भी कर्तृत्व नहीं है, जिसने जले हुए कपड़ों के समान सब सांसारिक वासनाओं को

जला कर जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त की है, वह शरीर में रहते हुए भी शरीर रहित के समान है। जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसको विधि क्या और निषेध क्या-दोनों ही नहीं है।

कस्मात्कोहं किमपि च भवान्कोऽयमत्रप्रपञ्चः
स्वं स्वं वेद्यं गगनसदृशं पूर्णतत्त्वप्रकाशम्।
आनन्दाख्यं समरसवने बाह्यमन्तर्विहीने
निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतः कोविधिः कोनिषेधः ॥८॥

मैं कौन हूं ? किससे हूं ? आप कौन हैं ? यह प्रपंच क्या है ? जो एकरस ब्रह्म रूप वन में भीतर और बाहर के भेद से रहित आकाश के समान आनन्द नामक सर्वव्यापी पूर्ण तत्त्व है, वह ही अपना आप जानने योग्य है, जो तीनों गुणों से रहित मार्ग में विचरने वाला है, उसको विधि क्या और निषेध क्या-दोनों में से एक भी नहीं।

❁ इति शुकाष्टक स्तोत्रं संपूर्णम् ❁

१६—श्रीहरिशरणाष्टकम् ।

वसन्त तिलका वृत्तम् ।

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै ।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ॥ १ ॥

कोई शिव ही को ध्येय-उपास्य कहते हैं, कोई शक्ति और गणेश को और कोई सूर्य को ही उपास्य बताते हैं, उनके रूपों द्वारा आप ही प्रकट होते हैं इसलिये हे हाथ में शंख वाले! आप ही मेरे शरण-रक्षा करने वाले हैं! (शंख ॐकार रूप है ॐकार में जैसे तीन मात्रा और एक अमात्र है ऐसे ही शंख में साढ़े तीन चक्र होते हैं और शंख में स्वाभाविक ही ॐकार शब्द हुआ करता है इस कारण भी शंख ॐकार रूप है। हाथ से सब चीज़ नापी जाती है, जो ॐकार रूप सब जगत् को नाप लेता है-जगत् में व्यापक है वह ही हाथ में शंख वाला अमात्र रूप परमात्मा है)।

नो सोदरो न जनको जननी न जाया
नैवात्मजो न च कुलं विपुलं वलं वा।
संदृश्यते न किल कोऽपि सहायको मे
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ॥ २ ॥

न भाई, न पिता माता, न स्त्री, न पुत्र, न कुल, न अधिक बल, न कोई मेरा सहायक दीखता है इसलिये हे हाथ में शंख वाले ! आप मेरे शरण–रक्षा करने वाले हैं।

नोपासिता मदमपास्य मया महांत-
स्तीर्थानि चास्तिकधिया नहि सेवितानि।
देवार्चनं च विधि वन्न कृतं कदापि
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंख पाणे ॥ ३ ॥

न तो मैंने मद रहित होकर महान् पुरुषों की उपासना की, न आस्तिक बुद्धि से तीर्थों का सेवन किया, न विधि सहित कभी देव पूजन किया, इसलिये हे हाथ में शंख वाले ! आप मेरे शरण–रक्षा करने वाले हैं।

दुर्वासना मम सदा परिकर्षयंति
चित्तं शरीरमपि रोगगणा दहंति।

संजीवनं च परहस्तगतं सदैव
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंख पाणे ॥ ४ ॥

मेरी दुर्वासनायें सदा दुःख देती रहती हैं चित्त और शरीर को रोग समूह जलाते हैं, मेरा जीवन सदा ही पराये हाथ में गया हुआ है इसलिये हे हाथ में शंख वाले ! आप मेरे शरण-रक्षा करने वाले हैं।

पूर्वं कृतानि दुरितानि मया तु यानि
स्मृत्वाऽखिलानि हृदयं परिकम्पते मे।
ख्याता च ते पतितपावनता तु यस्मात्
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंख पाणे ॥ ५ ॥

पूर्व में मैं जो पाप कर चुका हूं उन सब को स्मरण करके मेरा हृदय कांपता है किन्तु आपकी पतित पावनता तो प्रसिद्ध है—आपने बहुत से पापियों को पवित्र किया है, यह बात शास्त्रों द्वारा सब जानते हैं इसलिये हे हाथ में शंख वाले ! आप मेरे शरण-रक्षा करने वाले हैं।

दुःखं जराजननजं विविधाश्च रोगाः
काकश्वसूकरजनिर्निरये च पातः।

ते निस्मृतेः फलमिदं विततं हि लोके
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंख पाणे ॥ ६ ॥

जरा और जन्म से उत्पन्न हुए दुःख और अनेक प्रकार के रोग हुए हैं, काक, घोड़ा और सूकर की योनि में तथा नरक में गिर चुका हूँ यह आपको भूल जाने का फल है, ऐसा लोक में विदित—प्रसिद्ध है इसलिये हे हाथ में शंख वाले! आप मेरे शरण—रक्षा करने वाले हैं।

नीचोऽपि पाप वलितोऽपि विनिंदितोऽपि
ब्रूयात्तवाहमिति यस्तु किलैकवारम्।
तं गच्छसीश निजलोकमिति व्रतं ते
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंख पाणे ॥ ७ ॥

नीच हो, पापी हो अथवा निन्दित हो 'मैं आपका हूं' इस प्रकार जो एक बार भी कहे तो हे ईश! आप उसे अपने लोक को ले जाते हैं; ऐसी आपकी प्रतिज्ञा है इसलिये हे हाथ में शंख वाले! आप मेरे शरण—रक्षा करने वाले हैं।

वेदेषु धर्मवचनेषु तथागमेषु
रामायणेऽपि च पुराणकदंबके वा।
सर्वत्र सर्वविधीना गदितस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंख पाणे ॥ ८ ॥

वेदों में, धर्म कथाओं में तथा शास्त्रों में, रामायण में और सब पुराणों में आपने इस प्रकार ही कहा है, इसलिये हे हाथ में शंख वाले ! आप मेरे शरण—रक्षा करने वाले हैं।

❀ इति श्री हरि शरणाष्टकं सम्पूर्णम् ❀

२०—शिष्ट स्तोत्रम्।

भज विश्रांतिं त्यज रे भ्रांतिं
निश्चिनु शैवं निज रूपम्।
हेयादेयातीतं सच्चि-
त्सुखरूपस्त्वं भव शिष्टः ॥ १ ॥

रे! विश्रांति—उपराम को भज, भ्रांति—भ्रम को त्याग, छोड़ने और पकड़ने से रहित सत्—सत्य, चित्–चैतन्य, सुख–आनन्द रूप अपने शिव रूप का निश्चय कर, शिष्ट–सभ्य हो।

दृश्यमशेषं त्वत्तोऽभिन्नं
मा भैषीः किलः भूमानम्।
विद्धयात्मानं वेदनरूपं
वेद शिरस्थं भव शिष्टः ॥ २ ॥

निश्चय सम्पूर्ण दृश्य—जगत् तुझसे अभिन्न है, (इसलिये) मत डर, उपनिषदों में स्थित, अनुभव स्वरूप भूमा को आत्मा जान, शिष्ट हो।

तृणवत्त्यज धनवनितापुत्रान्
लोकं शोकं भेद भवम्।
इदमहमित्थं कलनां हित्वा
पूर्णानन्दो भव शिष्टः ॥ ३ ॥

भेद से उत्पन्न हुए धन, स्त्री, पुत्र, लोक, शोक को तृण के समान त्याग दे 'यह, मैं' इस प्रकार की कलना-मैल को त्याग कर पूर्ण आनन्द स्वरूप शिष्ट हो।

कृत्याकृत्ये त्यजरे दूरे
विधिगोचरतां मार्गास्त्वम्।
मानागोचररूपं ज्ञात्वा
किं त्वं कर्ता भव शिष्टः ॥ ४ ॥

रे! कृत्य—विधि कर्म, अकृत्य—निषेध कर्म और विधि को बताने वाले मार्गों को तू दूर से त्याग दे, प्रमाणों से न जानने योग्य रूप को जान कर क्या तू कर्ता है-नहीं है, शिष्ट हो।

लोकविलक्षणचरितो भूया
लोकातीतं पदमिच्छन्।

पावय सकलांपृथिवीमेना-

मात्मारामो भव शिष्टः ॥ ५ ॥

लोक से अतीत—बाहर के पद की इच्छा करता हुआ लोक से विलक्षण मार्ग का चलने वाला हो, इस सब पृथिवी को पवित्र करता हुआ आत्माराम—आत्मा में रमण करने वाला शिष्ट हो।

निंदास्तोत्रे मानामानौ

समदृष्टेस्ते किं कुरुताम् ।

कुरुतां लोकः कामं स्वेष्टं

का ते हानिर्भव शिष्टः ॥ ६ ॥

निन्दा स्तुति और मान अपमान से तुझ समदर्शी को क्या करना है—कुछ नहीं, लोक अपनी इच्छानुसार कामना किया करें, तेरी क्या हानि है-कुछ नहीं, शिष्ट हो।

शैवः शाक्तो गणपतिभक्तो

वैष्णवसौराविति नाना

अज्ञात्वायं जाता लोके

स त्वं शंभुर्भव शिष्टः ॥ ७ ॥

शैव-शिव उपासक, शाक्त-शक्ति के उपासक, गणपति के भक्त, वैष्णव-विष्णु उपासक, सौर-सूर्य उपासक अनेक जिसको न जान कर लोक में हुए हैं, वह शंभु तू है, शिष्ट हो।

जलबुद्बुदवज्जगदिदमखिलं
पश्यन्नात्मनि तिष्ठ त्वम् ।
को वा मोहः शोकः को वाऽ-
द्वैतदृशस्तव भव शिष्टः ॥ ८ ॥

इस संपूर्ण जगत् को जल के बबूले के समान जान कर तू आत्मा में टिक, तुझ अद्वैत देखने वाले को शोक कहां और मोह कहां इसलिये शिष्ट हो।

अजपामंत्रं देशिकवचनो-
ल्लब्ध्वा देवं स्वात्मानम् ।
ज्ञात्वा सहजावस्थायां वस
भावातीतो भव शिष्टः ॥ ९ ॥

देशिक—सद्गुरु के वचन से अजपा मंत्र को प्राप्त कर अपने आत्मा को जान कर सहजा—तुरीयावस्था में वास कर, भाव से अतीत शिष्ट हो।

शिष्टस्तोत्रं ब्रह्मिष्ठानां
तुष्टिकरं स्यादिति कलये ।
उक्तावस्था सर्वेषां स्याद्
गुरुकृपया किल बुद्धिमताम् ॥ १० ॥

ब्रह्म की इच्छा करने वालों को यह शिष्ट स्तोत्र कलियुग में संतुष्टि करने वाला हो और गुरु कृपा से सब बुद्धिमानों को उपरोक्त अवस्था की निश्चय प्राप्ति हो।

❀ इति शिष्टस्तोत्र सम्पूर्णम् ❀

२१—वैराग्य पंचकम्।

परमार्थ प्राप्ति में वैराग्य का महत्त्व प्रसिद्ध ही है। वैराग्य के अभाव में ज्ञान केवल भार रूप होता है। वैराग्य का इतना महत्त्व मानते हुए भी साधन काल में शरीर का महत्त्व भी कोई भूल नहीं सकता। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'शरीरमाद्यं-खलु धर्म साधनम्.' शरीर ही धर्म का आद्य साधन है। धर्म साधन के लिये शरीर की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य की आवश्यकता मान्य रखते हुए भी उदर पूर्ति की चिंता मनुष्य को संसार से पृथक् नहीं होने देती और इस बहाने से अन्य सब प्रकार के राग भी उसका पीछा लेते हैं और ऐसी अवस्था में वैराग्य उसको एक पहाड़ सा प्रतीत होने लगता है। वैराग्य न होने का दूसरा एक कारण ईश्वर विषयक श्रद्धा का अभाव भी है; क्योंकि यह देखा गया है कि एक इस श्रद्धा के बल मनुष्य कठिन से कठिन प्रसंग में भी निर्मोह रह सकता है। प्रस्तुत वैराग्य पंचक में बड़ी जोरदार भाषा में वैराग्य के इन दोनों अंगों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। अन्न वस्त्र की चिन्ता ही राग के किले का प्रधान तट है, इस-लिये पंचक में इसी पर प्रथम आघात किया है—

शिलं किमनलं भवेदनल-
मौदरं बाधितुम् ।
पयः प्रसृतिपूरकं किमु
न धारकं सारसम् ॥
अयत्नमलमल्पकं
पथि पटच्चरं कच्चरम् ।
भजन्ति विबुधा मुधा अहह
कुक्षितः कुक्षितः ॥ १ ॥

शिलवृत्ति यानी खेत में से बीन कर लाये हुए बाल (जिसमें नाज के दाने होते हैं) क्या भूख निवारण करने के लिये पर्याप्त नहीं है ? क्या अंजुली से तालाब का जल पी लिया जाय तो प्यास नहीं बुझेगी ? वैसे ही, मार्ग में पड़ा हुआ फटा पुराना कपड़े का टुकड़ा क्या अंग रक्षा के लिये पर्याप्त नहीं है ? बड़े खेद की बात है; लोग व्यर्थ ही पेट के लिये राजाओं की खुशामद करते हैं ॥ १ ॥

इस पद्य में आचार्य परमार्थ चाहने वाले को कम से कम आवश्यकताएं क्या हैं इसका विचार करते हैं । प्राचीन समय में किसान लोग जब खेतों में से नाज ले जाते थे तब उसके बाद ऋषि लोग बचे हुए बाल अथवा जमीन पर गिरे हुए दाने बीन बीन कर उसी पर अपना निर्वाह करते थे । इसीको शील वृत्ति कहते हैं । इस प्रकार से निर्वाह करना अत्यन्त निर्दोष है, क्योंकि

इसमें किसी प्राणी को उनके निर्वाह के लिये कष्ट नहीं पहुंचता। इस प्रकार अथवा इसीके समान किसी अन्य वृत्ति से, बिना विशेष प्रयास के उदर पूर्ति हो सकती है। जल के लिये तालाब भरे पड़े हैं और पात्र के लिये हाथ हैं। यह हुई अन्न जल की व्यवस्था। दूसरा इतना ही महत्त्व का प्रश्न वस्त्र का है। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि लोगों ने निरुपयोगी समझकर फेंक दिये हुए फटे पुराने वस्त्र कौपीन के लियें अच्छा काम दे सकते हैं और शीत निवारण के लिये उनकी गुदड़ी भी अच्छी बन सकती है। अन्न वस्त्र के इस प्रयास रहित प्रबन्ध से सावना के निमित्त आवश्यक देह यात्रा बहुत अच्छी तरह से चल सकती है। ऐसी अवस्था में संसार के मिथ्या और नाशवान् भोगों के पीछे जो लोग राजाओं की या धनी लोगों की सेवा चाकरी या खुशामद करते हैं उनके लिये विवेकी को खेद नहीं तो क्या होगा?

मनुष्य को अन्न वस्त्र के अलावा और भी ऐसी आवश्यकताएं होती हैं जिनकी पूर्ति के लिये धन की आवश्यकता मानी गई है। इसीलिये अन्न वस्त्र की कमी न होते हुए भी धन प्राप्ति के लिये धनवान् के आगे दीन होना अपरिहार्य है, ऐसा कोई कहे तो इसके उत्तर में द्वितीय पद्य लिखते हैं—

> दुरीश्वर द्वारवहिर्वितर्दिका-
> दुरासिकायै रचितोऽयमंजलिः।
> यदंजनाभं निरपायमस्ति नो
> धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥ २ ॥

घमंडी धनपति की ड्योढ़ी पर बुरी तरह से बैठने को मेरा नमस्कार है! (यानी अब मैं वैसा कभी भी नहीं बैठूंगा) क्योंकि. अर्जुन के रथ की शोभा बढ़ाने वाले भक्त वत्सल श्याम-सुन्दर श्रीकृष्ण ही अब मेरा अक्षय धन है ॥ २ ॥

अन्न वस्त्र के व्यतिरिक्त भी ऐसी कुछ आवश्यकताएं धन से पूर्ण होती हैं इसमें कोई संदेह नहीं; परन्तु उस धन के उपार्जन के लिये अति कष्टप्रद ऐसी दीनता स्वीकारनी पड़ती है और फिर भी सब प्रकार की आवश्यकताएं दूर करने की सामर्थ्य धन में नहीं है। आचार्य एक ऐसा धनी बताते हैं कि जिसकी थोड़ी सी कृपा लाभ होने पर फिर उसको किसी के आगे दीन नहीं होना पड़ता। धन प्राप्ति के साथ मोह बढ़ता है, परन्तु यही एक ऐसा धन है कि जिससे मोह दूर भागता है और बुद्धि अधिक प्रकाश वाली होती है। सारांश यह है कि लौकिक धन दूषण रूप है और यह ईश्वर भक्ति रूप धन मनुष्य का भूषण है।

आगे के दो पद्यों में लौकिक धन और परमात्मा रूप धन दोनों की तुलना करके लौकिक धन की अत्यन्त क्षुद्रता और परमार्थ रूप धन की सर्वतोपरि विशालता प्रतिपादन करते हैं।

काचाय नीचं कमनीयवाचा।
मोचाफलस्वादमुचा न याचे॥
दयाकुचेले धनदकुचेले।
स्थिते कुचेले श्रितमाकुचेले॥ ३॥

धनपति कुबेर जिसके आगे एक दरिद्री के समान है ऐसे क्षीर सागरशायी दयासिंधु भगवान् लक्ष्मीपति के होते हुए एक कांच के टुकड़े के लिये, केले की मिठास जिसके आगे कुछ भी नहीं है. ऐसी मधुर वाणी से किसी धनी से अब मैं याचना नहीं करूंगा ! ॥ ३ ॥

जिसने भगवान् का आश्रय किया है उसके लिये व्यावहारिक धन कितना क्षुद्र है यह इस पद्य में अत्युत्तम रीति से बताया गया है । जो भगवान् का आश्रय ग्रहण करता है उसको व्यावहारिक आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं और देह यात्रा की तो उसे कभी भी चिंता नहीं करनी पड़ती क्योंकि भगवान् की उसके लिये यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि भक्त का योगक्षेम वे स्वयं वहन करेंगे । ऐसी अवस्था में व्यावहारिक धन की भक्त को आवश्यकता ही कहां रही ? भगवान् रूप महान् रत्न की अपेक्षा व्यावहारिक धन एक कांच के टुकड़े के समान है । इसलिये ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो ऐसा महान् धन प्राप्त होने पर भी एक क्षुद्र पदार्थ के लिये किसी की खुशामद करेगा ?

व्यावहारिक धन ऐसा क्षुद्र होते हुए भी धनी पुरुष कैसे निष्ठुर और भगवान् कैसे दयालु हैं इसका आगे के पद्य में निदर्शन करते हैं—

क्षोणीकोणशतांशपालनखलद्-
दुर्वारगर्वानल-
क्षुभ्यत्क्षुद्रनरेन्द्रचाटुरचनां
धन्यां न मन्यामहे ॥

देवं सेवितुमेव निश्चिनुमहे
योऽसौ दयालुः पुरा ।
धानामुष्टिमुचे कुचेलमुनये
धत्ते स्म वित्तेशताम् ॥ ४ ॥

थोड़े से धरती के टुकड़े पर अधिकार प्राप्त होने से जो गर्वाग्नि से जलता रहता है यानी घमंड के कारण बात २ पर क्रोधित होता है; ऐसे राजा की चापलूसी करने में मैं अब धन्यता नहीं समझता। मैंने अब उसी भगवान् की सेवा करना निश्चय किया है जिसने एक मुट्ठी भर चावल ही से प्रसन्न होकर दरिद्री सुदामा को कुवेर बना दिया ॥ ४ ॥

प्रभुता प्राप्त होने पर गर्व किसको नहीं होता ? फिर राजा में अभिमान और क्रोध का होना कौन विशेष बात है ? अभिमान से मनुष्य अन्धा होता है, परन्तु लोभ से मनुष्य कम अन्धा नहीं होता। राजा किसी साधारण बात पर नाराज होकर करा कराया सब नष्ट कर देगा, यह जानते हुए भी धन के लोभी उसकी स्तुति प्रशंसा करने ही में लगे रहते हैं और उसीमें अपने को धन्य मानते हैं। भगवान् इससे अत्यन्त विपरीत हैं। भक्त पर भगवान् का रुष्ट होना न किसी ने देखा न सुना। वैसे ही बहुत सामान्य सेवा के लिये भी अत्यन्त महान् फल देने के लिये भी भगवान् प्रसिद्ध हैं। इसलिये अपना परम कल्याण चाहने वाले को सब तरफ से मन को हटाकर एक परमात्मा ही का आश्रय कर्तव्य है। इसी पद्य का भाव दृढ़ करने के लिये पुनः लौकिक धन की दुःसाध्यता और क्षण भंगुरता तथा पारमार्थिक धन की सुगमता और अक्षयता दिखाते हैं—

शरीरपतनावधि
प्रभुनिषेवणा पादना-
दविन्धनधनंजय
प्रशमदं धनं दन्धनम् ॥
धनंजयविवर्धनं
धनमुदूढगोवर्धनं ।
सुसाधनमवाधनं
सुमनसां समाराधनम् ॥ ५ ॥

शरीर पात होने तक धनी की सेवा करने पर केवल क्षुधा की शान्ति करने वाला धन धान्य ही प्राप्त होता है, परन्तु अर्जुन को समुन्नत करने वाला और गोवर्धन को उठाने वाला भगवान् श्रीकृष्ण रूप धन तो शुद्ध चित्त वाले को अति सुगमता से प्राप्त होता है और उसका कभी क्षय भी नहीं होता ॥ ५ ॥

आमरण किसी मनुष्य की सेवा की जाय तो उसका फल इस देह के साथ ही समाप्त होता है आगे उसका उपयोग नहीं है। परन्तु भगवद्धन की प्राप्ति में शुद्ध चित्त वाले के लिये इतनी कठिनता भी नहीं है और प्राप्ति के बाद उसका क्षय भी नहीं होता। इसकी प्राप्ति से दुःख परम्परा कायम के लिये दूर हो जाती है और भक्त स्वयं आनन्द स्वरूप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सब परमार्थ के आधार रूप वैराग्य का, कल्याणकांक्षी को आदर से सेवन करना अत्यंत उचित है।

❀ इति वैराग्य पंचक सम्पूर्णम् ❀

२२—भगवच्छरण स्तोत्रम् ।

अनुष्टुप वृत्तम् ।

सच्चिदानंदरूपाय भक्तानुग्रहकारिणे ।
मायानिर्मितविश्वाय महेशाय नमो नमः ॥ १ ॥

सत्—त्रिकालाबाधित, चित्—चेतन—ज्ञानस्वरूप, आनंद—सुख रूप वाले, भक्तों पर अनुग्रह करने वाले, माया करके विश्व—संसार को निर्माण करने वाले महेश को नमस्कार है। नमस्कार है।

वसंत तिलका वृत्तम् ।

रोगा हरंति सततं प्रबलाः शरीरं
कामादयोऽप्यनुदिनं प्रदहंति चित्तम् ।
मृत्युश्च नृत्यति सदा कलयन्दिनानि
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ २ ॥

प्रबल रोग सदा शरीर को हरते—दुर्बल करते रहते हैं, कामादि भी प्रति दिन चित्त को जलाते रहते हैं; मृत्यु दिनों को गिनता हुआ सदा नाचता रहता है इसलिये हे दीनबंधो ! अब आप मेरे रक्षक हैं। (संसार के अनेक दुःखों से दुःखी होकर अपनी इच्छानुसार कार्य न होता हुआ देखकर जगत् से निराश होकर ईश्वर की शरण में जाता है, दीन होकर स्तुति करता है, ईश्वर को अपना कल्याण करने वाला समझ कर उसे दीन-बन्धु कहता है) ।

देहो विनश्यति सदा परिणामशील-
श्चित्तं च खिद्यति सदा विषयानुरागी।
बुद्धिः सदा हि रमते विषयेषु नांत-
स्तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ ३ ॥

परिणाम-बदलने के स्वभाव वाला देह सदा नष्ट होता रहता है, विषयों में आसक्त चित्त सदा खिन्न-दुःखी होता रहता है, बुद्धि सदा विषयों में रमण करती-आनंद मानती है, भीतर में-आत्मा में रमण नहीं करती-आनंद नहीं मानती इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं।

आयुर्विनश्यति यथामघटस्थतोयं
विद्युत्प्रभेव चपला नवयौवनश्रीः।
वृद्धा प्रधावति यथा मृगराजपत्नी
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ ४ ॥

फूटे हुए घड़े में रक्खे हुए जल के समान आयु नाश होती है, हाय ! यौवन और लक्ष्मी बिजली की चमक के समान चंचल हैं, वृद्धावस्था सिंहणी के समान दौड़ती आती है इसलिये हे दीनबंधो ! अब आप मेरे रक्षक हैं।

आयाद्व्ययो मम भवत्यधिको विनीते
कामादयो हि बलिनो निबलाः शमाद्याः।

मृत्युर्यदा तुदति मां वत किं वदेयं
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ ५ ॥

मेरी शुभ गुणों की आमदनी से खर्च अधिक होता है, कामादि बलवान हैं शम आदि निर्बल हैं, हाय! जब मृत्यु मुझको पीड़ा देता है तब क्या कहूं ? इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं।

तप्तं तपो नहि कदाऽपि मयेह तन्वा
वाण्या तथा नहि कदाऽपि तपश्च तप्तम्।
मिथ्याभिभाषणपरेण न मानसं हि
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ ६ ॥

मैंने कभी भी यहां शरीर से तप नहीं किया और मिथ्या भाषण करने वाला होने के कारण कभी वाणी का तप भी नहीं किया, न मन का ही तप किया इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं।

स्तब्धं मनो मम सदा नहि याति सौम्यं
चक्षुश्च मे न तव पश्यति विश्वरूपम्।
वाचा तथैव न वदेन्मम सौम्यवाणीं
तस्मात्त्वमेव शरणं मम दीनबंधो ॥ ७ ॥

मेरा मन सदा स्तब्ध-जड़ है, कभी सौम्यता को प्राप्त नहीं होता, मेरा नेत्र आपके विश्वरूप को नहीं देखता इसी प्रकार

मेरी जिह्वा सौम्य-सुन्दर वचन नहीं बोलती इसलिये हे दीन-बन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं।

सत्त्वं न मे मनसि याति रजस्तमोभ्यां
विद्धे तदा कथमहो शुभकर्मवार्ता।
साक्षात्परं परतया सुखसाधनं तत्
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ ८ ॥

रजोगुण और तमोगुण से दबे हुए मेरे मन में सतोगुण आता ही नहीं तो हाय ! शुभ कर्म की बात ही क्या है ! वह (शुभ कर्म) ही साक्षात् अथवा परंपरा से सुख का साधन है इसलिये हे दीनबंधो ! अब आप मेरे रक्षक हैं। (शुभ कर्म स्वर्गादि सुख का साक्षात् साधन है और मोक्ष का परंपरा साधन है)।

पूजा कृता नहि कदाऽपि मयात्त्वदीया
मंत्रं त्वदीयमपि मे न जपेद्रसज्ञा।
चित्तं न मे स्मरति ते चरणौ ह्यवाप्य
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो ॥ ९ ॥

मैंने कभी भी आपकी पूजा नहीं की, मेरी जिह्वा आपके मंत्र को नहीं जपती, मेरा चित्त भी आपके चरणों को प्राप्त होकर स्मरण नहीं करता, इसलिये हे दीनबंधो ! अब आप मेरे रक्षक हैं।

यज्ञो न मेऽस्ति हुतिदानदयादियुक्तो
ज्ञानस्य साधनगणो न विवेकमुख्यः ।
ज्ञानं क साधनगणेन विना क्व मोक्ष–
स्तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो॥ १० ॥

मेरा यज्ञ, आहुति, दान, दया युक्त नहीं है, न ज्ञान के साधन समूह हैं, न मुख्य विवेक है, साधन समूह बिना ज्ञान कहां, मोक्ष कहां ! इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं ।

सत्संगतिर्हि विदिता तव भक्तिहेतुः
साऽप्यद्य नास्ति बत पंडितमानिनो मे ।
तामंतरेण न हि सा क्व च बोधवार्ता
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो ॥ ११ ॥

आपकी भक्ति का हेतु सत्संगति है, यह प्रसिद्ध है हाय ! वह (सत्संगति) भी पंडित होने के अभिमान वाले मुझको आज प्राप्त नहीं है, जब सत्संगति ही नहीं है तो बोध-ज्ञान की बात ही क्या है । इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं ।

दृष्टिर्न भूतविषया समताभिधाना
वैषम्यमेव तदियं विषयीकरोति ।

शांतिः कुतो मम भवेत्समता न चेत्स्यात्
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो ॥ १२ ॥

भूतों को विषय करने वाली दृष्टि समानता वाली नहीं है. यह (दृष्टि) विषमता को ही विषय करती है जो समता ही न हो तो मेरी शांति कहां से हो ? इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं ।

मैत्री समेषु न च मेऽस्ति कदाऽपि नाथ
दीने तथा न करुणा मुदिता च पुण्ये ।
पापेऽनुपेक्षणवतो ममसुखंकथं स्यात्
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो ॥ १३ ॥

हे नाथ ! बराबर वालों में कभी भी मेरा मित्र भाव नहीं है. न दीनों पर करुणा का भाव, न पुण्य करने वालों में मुदिता-प्रसन्नता का भाव है, न पापियों में उपेक्षा-उदासीनता का भाव है. फिर मुझे सुख कहां से हो ? इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं ।

नेत्रादिकं मम बहिर्विषयेषु सक्तं
नांतर्मुखं भवति तामविहाय तस्य ।
क्वांतर्मुखत्वमपहाय सुखस्य वार्ता
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो ॥ १४ ॥

मेरी नेत्रादि इन्द्रिय बाहर के विषयों में आसक्त हैं, अंतर्मुख नहीं होतीं उन विषयों को छोड़े बिना, अन्तर्मुख हुए बिना उसके सुख की वार्ता कहां? इसलिये हे दीनबन्धो! अब आप मेरे रक्षक हैं।

त्यक्तं गृहाद्यपि मया भवतापशांत्यै
नासीदसौ हृतहृदो मम मायया ते।
सा चाधुना किमु विधास्यति नेति जाने
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ १५ ॥

संसार ताप शांत करने के लिये मैंने घर आदिक भी छोड़ दिया, वह (ताप) शांत न हुआ मेरे चित्त को आपकी माया ने हर लिया—छीन लिया, अब वह (माया) क्या करेगी यह मैं नहीं जानता, इसलिये हे दीनबंधो! अब आप मेरे रक्षक हैं।

प्राप्ता धनं गृहकुटुम्बगजाश्वदारा
राज्यंयदैहिकमथेन्द्रपुरश्च नाथ।
सर्वं विनश्वरमिदं न फलाय कस्मै
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबन्धो ॥ १६ ॥

हे नाथ! यदि धन, घर, कुटुम्ब, घोड़े, हाथी, स्त्री, यहां का और इन्द्रपुर का राज प्राप्त हो तो वह सब नाशवान् है किसी काम के नहीं! इसलिये हे दीनबन्धो! अब आप मेरे रक्षक हैं।

प्राणान्निरुद्धय विधिना न कृतोहि योगो
योगं विनाऽस्ति मनसः स्थिरता कुतो मे।
तां वै विना मम न चेतसि शांति वार्ता
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ १७ ॥

प्राणों को यथा विधि रोक कर योग नहीं किया गया, योग के बिना मेरे मन में स्थिरता कहां से हो! स्थिरता बिना मेरे चित्त में शांति की क्या वार्ता? इसलिये हे दीनबन्धो! अब आप मेरे रक्षक हैं।

ज्ञानं यथा मम भवेत्कृपया गुरूणां
सेवां तथा न विधिनाकरवं हि तेषाम्।
सेवाऽपि साधनतया विदितास्ति चित्ते
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ १८ ॥

जिस प्रकार गुरुओं की कृपा से मुझको ज्ञान हो जाय इस प्रकार मैंने उनकी विधि से सेवा नहीं की, सेवा भी साधन रूप है, ऐसा चित्त से जानता हूं, इसलिये हे दीनबन्धो! अब आप मेरे रक्षक हैं।

तीर्थादिसेवनमहो विधिना हि नाथ
नाकारि येन मनसो मम शोधनं स्यात्।

शुद्धिं विना न मनसोऽवगमापवर्गौ
तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ १९ ॥

हाय ! हे नाथ ! मैंने विधि से तीर्थों का भी सेवन नहीं किया जिससे मेरे मन की शुद्धि हो, मन की शुद्धि विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता, इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं ।

वेदान्तशीलनमपि प्रमितिं करोति
ब्रह्मात्मनः प्रमितिसाधन संयुतस्य ।
नैवास्ति साधनलवो मयि नाथ तस्या-
स्तस्मात्त्वमद्य शरणं मम दीनबंधो ॥ २० ॥

प्रमिति–यथार्थ ज्ञान के साधन संयुक्त को वेदान्त के विचार से भी ब्रह्म और आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है, हे नाथ ! मुझमें उसका थोड़ासा भी साधन नहीं है, इसलिये हे दीनबन्धो ! अब आप मेरे रक्षक हैं ।

गोविन्द शंकर हरे गिरिजेशमेश
शंभो जनार्दन गिरीश मुकुंद साम्ब ।
नान्या गतिर्मम कथंचन वां विहाय
तस्मात्प्रभो मम गतिः कृपया विधेया ॥ २१ ॥

हे गोविन्द ! हे शंकर ! हे हरे ! हे गिरिजेश ! हे मेश ! हे शंभो ! हे जनार्दन ! हे गिरीश ! हे मुकुन्द ! आपकी शक्ति सहित आपको छोड़ कर दूसरी मेरी गति नहीं है, इसलिये हे प्रभो ! कृपा करके मेरी गति कीजिये ।

एतत्स्तवं भगवदाश्रयणाभिधानं
ये मानवाः प्रतिदिनं प्रणताःपठंति ।
ते मानवा भवरतिं परिभूय शांतिं
गच्छन्ति किं च परमात्मनि भक्तिमद्धा ॥ २२ ॥

भगवत् शरण नामक इस स्तोत्र को जो मनुष्य प्रतिदिन प्रीति से पढ़ते हैं वे मनुष्य संसार आसक्ति को छोड़ कर शांति को प्राप्त होते हैं क्योंकि परमात्मा में भक्ति वाले होते हैं ।

॥ इति भगवच्छरण स्तोत्र सम्पूर्णम् ॥

२३—कौपीन पंचकम् ।

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो
भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः ।
अशोकवन्तः करुणैकवन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥ १ ॥

वेदान्त वाक्यों में ही जो सदा रमते रहते हैं; केवल भिक्षा के अन्न में ही जो संतुष्ट रहते हैं; जो करुणाशील और शोक रहित रहते हैं, ऐसे कौपीन धारण करने वाले महात्मा सचमुच भाग्यवान् हैं।

मूलंतरोः केवलमाश्रयन्तः
पाणिद्वये भोक्तुमसंत्रयन्तः।
कन्थामपि स्त्रीमिव कुत्सयन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥ २॥

जो केवल पेड़ के नीचे ही पड़े रहते हैं और बिना सोचे दोनों हाथ में भिक्षा लेकर भोजन करते हैं, स्त्री समान गुदड़ी का भी निरादर करते हैं, ऐसे कौपीन धारण करने वाले महात्मा सचमुच भाग्यवान् हैं।

देहाभिमानं परिहृत्यदूरा-
दात्मानमात्मन्यवलोकयन्तः।
अहर्निशं ब्रह्मणि ये रमन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥ ३॥

जिन्होंने देहाभिमान को दूर ही से छोड़ दिया है, जो आत्मा को आत्मा में देखते हैं और जो रात दिन ब्रह्म ही में रमण करते हैं, ऐसे कौपीन धारण करने-वाले महात्मा सचमुच भाग्यवान् हैं।

स्वानंदभावे परितुष्टिमन्तः
स्वशान्तसर्वेन्द्रियवृत्तिमंतः ।
नान्तं न मध्यं न वहिः स्मरंतः
कौपीनवंतः खलु भाग्यवंतः ॥ ४ ॥

जो अपने आनन्द में प्रसन्न रहते हैं जो अपनी सभी इन्द्रियों की वृत्तियां आत्मा में शान्त किये रहते हैं और जिनको आन्तर की, मध्य की या वाहर की कुछ भी खवर नहीं है, ऐसे कौपीनधारी महात्मा सचमुच वड़े भाग्यवान् हैं ।

पंचाक्षरंपावनमुच्चरंतः
पतिंपशूनां हृदिभावयन्तः ।
भिक्षाशनादिक्षु परिभ्रमंतः
कौपीनवंतः खलु भाग्यवंतः ॥ ५ ॥

जो परम पवित्र पंचाक्षर मंत्र (नमः शिवाय) का सदा उच्चारण करते हैं, जो सव जीवों के नाथ श्रीशंकर को सदा हृदय में रखते हैं और भिक्षान्न सेवन करते हुए चारों दिशाओं में परिभ्रमण करते हैं, ऐसे कौपीन धारण करने वाले महात्मा सचमुच भाग्यवान् हैं ।

❀ इति कौपीन पंचक सम्पूर्णम् ❀

२४—ब्रह्मज्ञानावली ।

सकृच्छ्रवण मात्रेण
ब्रह्मज्ञानं यतो भवेत् ।
ब्रह्मज्ञानावलीमाला
सर्वेषां मोक्षसिद्धये ॥ १ ॥

जिसके एक बार श्रवण करने ही से ब्रह्म ज्ञान होजाता है ऐसी यह ब्रह्मज्ञानावलीमाला सबको मोक्ष प्राप्ति के लिये अत्यन्त उपयोगी है ।

असंगोऽहमसंगोऽह-
मसंगोऽहं पुनः पुनः ।
सच्चिदानंदरूपोऽह-
महमेवाहमव्ययः ॥ २ ॥

मैं असंग हूं असंग हूँ बार २ कहता हूँ मैं असंग हूँ, मैं सच्चिदानंद रूप हूँ, अव्यय हूं, मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है ।

नित्यशुद्धविमुक्तोहं
निराकारोहमव्ययः ।

भूमानंद स्वरूपोऽह-

महमेवाहमव्ययः ॥ ३ ॥

मैं नित्य शुद्ध हूँ, मुक्त हूं, मेरा न कोई आकार है, न मैं कभी बदलता हूँ। मैं सब सुखों के आधार रूप ब्रह्मानंद स्वरूप हूँ, मैं अव्यय हूँ, मैं ही मैं हूं, मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

नित्योहं निरवद्योहं

निराकारोहमच्युतः।

परमानंदरूपोह-

महमेवाहमव्ययः ॥ ४ ॥

मैं नित्य हूं, मुझमें कोई दोष नहीं है, न मेरी कोई आकृति है। मैं परम आनंद स्वरूप हूं, अव्यय हूं, अकेला मैं ही मैं हूँ सिवाय मेरे और कुछ नहीं है।

शुद्ध चैतन्यरूपोऽह-

मात्मारामोहमेव च।

अखंडानंदरूपोऽह-

महमेवाहमव्ययः ॥ ५ ॥

मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ मैं ही निजानंद स्वरूप हूं, मैं अखंड आनंद स्वरूप हूँ अव्यय हूँ मैं ही मैं हूँ सिवायमेरे और कुछ भी नहीं है।

प्रत्यक्चैतन्यरूपोऽहं

शान्तोऽहं प्रकृतेः परः ।

शाश्वतानंदरूपोह-

महमेवाहमव्ययः ॥ ६ ॥

सब प्राणियों के अन्तःकरण में रहा हुआ शुद्ध चैतन्य मैं हूँ प्रकृति से पर शांत स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, कभी नाश न होने वाला आनन्द मैं हूँ मैं अव्यय हूँ अद्वितीय हूँ मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

तत्त्वातीतः परात्माऽहं

मध्यातीतः परः शिवः ।

मायातीतः परं ज्योति-

रहमेवाहमव्ययः ॥ ७ ॥

तत्त्वों से पर ऐसा परमात्मा मैं हूँ इस मध्य से परे ऐसा परम शिव मैं हूं, माया से परे ऐसा परम ज्योतिस्वरूप अव्यय मैं हूँ, मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

नामरूपव्यतीतोऽहं

चिदाकारोऽहमच्युतः ।

सुखस्वरूपरूपोऽह-

महमेवाहमव्ययः ॥ ८ ॥

मैं नाम रूप से पृथक् हूं, शुद्ध चैतन्य ही मेरा आकार है। मैं अच्युत हूं. सुख स्वरूप हूं, अव्यय हूं मैं ही मैं हूं मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

मायातत्कार्यदेहादि
मम नास्त्येव सर्वदा ।
स्वप्रकाशैकरूपोऽह-
महमेवाहमव्ययः ॥ ९ ॥

माया तथा उसके कार्यरूप देह, गृह आदि प्रपंच किसी काल में मेरे नहीं हैं, मैं स्वयंप्रकाश स्वरूप हूँ अव्यय हूँ मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

गुणत्रयव्यतीतोऽहं
ब्रह्मादीनां च साक्ष्यहम् ।
अनंतानंदरूपोऽह-
महमेवाहमव्ययः ॥ १० ॥

मैं तीनों गुणों से रहित हूँ और ब्रह्मा आदि का भी साक्षी हूं मेरे आनन्द का कोई पार नहीं है, मैं अव्यय हूँ और मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है।

अन्तर्यामिस्वरूपोऽहं
कूटस्थः सर्वगोऽस्म्यहम् ।

परमात्मस्वरूपोऽह-

महमेवाहमव्ययः ॥ ११ ॥

सब के अन्तर्यामी स्वरूप से मैं ही स्थित हूँ कूटस्थ मैं हूँ, सब स्थान पर विराजमान मैं हूँ और उपाधि रहित परमात्मा भी मैं ही हूँ, मैं अव्यय हूँ मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

निष्कलोऽहं निष्क्रियोऽहं

सर्वात्माद्यः सनातनः ।

अपरोक्षस्वरूपोऽह-

महमेवाहमव्ययः ॥ १२ ॥

मैं विभाग रहित हूँ निष्क्रिय हूँ मैं सनातन और सब का आदि ऐसा आत्मा हूँ मैं सदा ही प्रत्यक्ष रहता हूँ, मैं अव्यय हूँ और मैं ही मैं हूँ मेरे सिवाय और कुछ नहीं है।

द्वन्द्वादिसाक्षिरूपोऽह-

मचलोऽहं सनातनः ।

सर्वसाक्षी स्वरूपोऽह-

महमेवाहमव्ययः ॥ १३ ॥

राग द्वेपादि सब द्वन्द्वों का मैं साक्षी हूँ मैं सनातन हूँ मैं कभी भी चलायमान नहीं होता, मैं सब का साक्षी स्वरूप हूँ मैं अव्यय हूं और मैं ही मैं हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है।

प्रज्ञानघन एवाहं
विज्ञानघन एव च ।
अकर्ताहमभोक्ताऽह-
महमेवाहमव्ययः ॥ १४ ॥

मैं ही प्रज्ञानघन हूँ और विज्ञानघन भी मैं ही हूं, मैं अकर्ता मैं अभोक्ता और अव्यय हूँ और मैं ही मैं हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है ।

निराधारस्वरूपोऽहं
सर्वाधारऽहमेव च ।
आप्तकामस्वरूपोऽह-
महमेवाहमव्ययः ॥ १५ ॥

जिसका कोई आधार नहीं है ऐसा परमाधार स्वरूप मैं हूँ और मैं ही सब किसी का आधार हूँ, मुझे सब कुछ प्राप्त है मैं अव्यय हूँ और मैं ही मैं हूं, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है ।

तापत्रयविनिर्मुक्तो
देहत्रयविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्ष्यस्मि
चाहमेवाहमव्ययः ॥ १६ ॥

मैं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों तापों से रहित हूँ, तीनों देह से विलक्षण हूं और तीनों अवस्थाओं का

मैं साक्षी हूं, मैं अव्यय हूं और मैं ही मैं हूँ, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है।

दृक्दृश्यौ द्वौ पदार्थौस्तः
परस्पर विलक्षणौ।
दृक् ब्रह्म दृश्यं मायेति
सर्व वेदान्तडिण्डिमः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्य दो पदार्थ एक एक से विलक्षण हैं उनमें जो द्रष्टा है वह ब्रह्म है और जितना दृश्य है वह माया है, यही सब वेदान्त शास्त्र का ढंढोरा है।

अहं साक्षीति यो विद्या-
द्विविच्यैवं पुनः पुनः।
स एव मुक्तः सो विद्वा-
निति वेदान्तडिण्डिमः ॥ १८ ॥

वेदान्त शास्त्र नक्कारे की चोट से सुनाते हैं कि जो जानता है कि मैं साक्षी स्वरूप हूं और बार बार विवेक करके निश्चय करता है, ऐसा विद्वान् पुरुष मुक्त ही है।

घटकुड्यादिकं सर्वं
मृत्तिका मात्रमेव च।
तद्वद्ब्रह्म जगत्सर्व-
मिति वेदान्तडिण्डिमः ॥ १९ ॥

घड़ा, दीवाल आदि जैसे मिट्टी ही है वैसे यह सब जगत भी ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्त शास्त्र का ढंढोरा है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
जीवो ब्रह्मैव नापरः।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्र-
मिति वेदान्तडिण्डिमः॥ २०॥

वेदान्त डंके की चोट से कहता है कि ब्रह्म ही सत्य है और जगत् सब भ्रान्ति है; जीव ब्रह्म ही है ब्रह्म से भिन्न जीव और कुछ नहीं है, इस प्रकार अद्वैत ज्ञान जिसमें प्रतिपादित हो उसी को सत्शास्त्र कहना युक्त है।

अन्तर्ज्योतिर्बहिर्ज्योतिः
प्रत्यग्ज्योतिः परात्परः।
ज्योतिर्ज्योतिः स्वयं ज्योति-
रात्म ज्योतिः शिवोऽस्म्यहम्॥ २१॥

भीतर का प्रकाश मैं हूं, बाहर का प्रकाश मैं हूँ और दोनों से परे अन्तःकरण में साक्षी रूप से प्रकाशमान प्रत्यगात्मा भी मैं हूँ, मैं प्रकाश का भी प्रकाशक और स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्म चैतन्य मैं ही शिव हूँ।

❀ इति ब्रह्मज्ञानावली सम्पूर्णम् ❀

२५—ब्रह्म स्तोत्रम् ।

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम् ।

अभिव्यनक् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥१॥

कल्पके अन्तमें कालजनित घोर अंधकारसे यह जगत् आवृत्त था, उसको जिस स्वयं प्रकाशने अपने तेजसे प्रकट किया है ॥१॥

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।

रजः सत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥ २ ॥

जो अपने तीन रूप से जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करता है, जो सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों का आधार है ऐसे श्रेष्ठ महान् (ब्रह्म) को मेरा नमस्कार है ॥ २ ॥

नम आद्याय वीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।

प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥ ३ ॥

प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और विकारों से जो व्यक्तित्व को प्राप्त होता है; ऐसे सबके आदि और सबके कारण रूप ज्ञान विज्ञान की मूर्ति को मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च

प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।

चित्तस्य चित्तेर्मनः इन्द्रियाणां

पतिर्महान्भूत गुणाशयेशः ॥ ४ ॥

जगत् की स्थिति में तुम उनका नियमन करते हो, मुख्य प्राण द्वारा तुम प्रजा के पति हो, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और चित्त के स्वामी हो और प्राणियों के अन्तःकरण के नियन्ता तुम ही हो ॥ ४ ॥

त्वं सप्ततन्तून्वितनोषि तन्वा
त्रय्या चतुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥ ५ ॥

तुम ही (विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर) इन तीनों शरीरों द्वारा और अन्तःकरण चतुष्टय की क्रिया द्वारा सातों लोक का विस्तार करते हो; तुम अद्वैत हो, जीवधारियों के तुम आत्मा हो, अनादि, अनन्त और पारावार रहित हो, तुम ही उत्पत्ति कर्ता और अन्तरात्मा (रूप से पालन-कर्ता) हो ॥ ५ ॥

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजोमहां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥ ६ ॥

सर्वदा जागृत रहकर घटिका, पल आदि अवयवों से तू ही जीवों के और लोकों के आयुष्य को क्षीण करता है; तू कूटस्थ आत्मा है परमेष्ठी प्रजापति तू ही है और तू ही चराचर जीवों का महान् आत्मा है ॥ ६ ॥

त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-
देजच्च किंचिद्व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥ ७ ॥

तुझसे पर और अपर कुछ भी नहीं और चराचर कुछ भी तुझसे भिन्न नहीं है। ये सब विद्या और कला तेरे ही शरीर हैं और तीनों लोकों के धारण करने वाला महान् हिरण्य-गर्भ तू ही है ॥ ७ ॥

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुंक्ते स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य-
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥ ८ ॥

हे विभो, जिस अव्यक्त रूप से यह स्थूल शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन और गुण व्यक्त होते हैं और अपने परम धाम में रहकर जिससे भोग भोगता है वह अव्यक्त पुराण पुरुष आत्मा तू ही है ॥ ८ ॥

अनन्ताव्यक्त रूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥ ९ ॥

जिसने अपने अपार अव्यक्तरूपसे यह सब जगत् व्याप्त किया है उस चित् अचित् शक्तिमय भगवान्को मेरा नमस्कार है ॥९॥

※ इति ब्रह्म स्तोत्र समाप्तम् ※

२६—तत्त्वमसि स्तोत्रम् ।

मनः कल्पितमेवेदं जगज्जीवेशकल्पनम् ।
तदेकं संपरित्यज्य निर्वाणमनुभूयताम् ॥ १ ॥

यह जगत, जीव और ईश्वर सब मन की कल्पना है; एक बार उस कल्पना को छोड़कर निर्वाण पद का अनुभव करो ।

सति सर्वस्मिन्सर्वज्ञत्वं
सत्यल्पे वा स्वल्पज्ञत्वम् ।
सर्वाल्पस्याभावे कस्मा–
ज्जीवेशौ वा तत्त्वमसि ॥ २ ॥

सर्व के होने से सर्वज्ञता है और अल्प के होने से अल्पज्ञता है; जहां सर्व का और अल्प का अभाव है वहां जीव और ईश का भेद कहां से ? सर्व और अल्प के भाव से रहित जो तत्त्व है वह तू है ।

सत्यां व्यष्ट्यौ जीवोपाधिः
सति सर्वस्मिन्नीशोपाधिः ।
व्यष्टिसमष्ट्योर्ज्ञाने कस्मा–
ज्जीवेशौ वा तत्त्वमसि ॥ ३ ॥

व्यष्टि के होने से जीव की उपाधि है और समष्टि के होने से ईश्वर की उपाधि है; व्यष्टि और समष्टि का ज्ञान होने पर जीव और ईश का भेद किस लिये ? दोनों उपाधियों के दूर होने पर जो रहा वह तत्त्व तू ही है।

सत्यज्ञाने जीवत्वोक्ति-
र्मायासत्वे त्वीशत्वोक्तिः ।
मायाविद्याबाधे कस्मा-
ज्जीवेशौ वा तत्त्वमसि ॥ ४ ॥

अज्ञान होने के कारण जीव कहा जाता है और माया के कारण ईश्वर कहा जाता है; अविद्या और माया दोनों का बाध होने पर वहां जीव और ईश कहां ? इन दोनों भावों से रहित तत्त्व है वह तू है।

सति वा कार्ये कारणतोक्तिः
कारणसत्त्वे कार्यत्वोक्तिः ।
कार्याकारणभावे कस्मा—
जीवेशौ वा तत्त्वमसि ॥ ५ ॥

कार्य का भाव होने से कारण कहा जाता है और कारण के भाव से कार्य कहा जाता है; कार्य कारण रहित हो वहां जीव और ईश का भेद कहां ? वह तत्त्व तू है।

सति भोक्तव्ये भोक्तायं स्या-
द्दातव्ये वा दाता स स्यात् ।
भोग्यो विध्यो भावे कस्मा-
ज्जीवेशौ वा तत्त्वमसि ॥ ६ ॥

भोगने के भाव से भोक्ता और देने के भाव से वह दाता होता है; भोगने का और भोग प्रदान करने का भाव ही न हो तो जीव और ईश का भेद कहां ? भेद रहित जो तत्त्व है वह तू है।

सत्यज्ञाने गुरुणा बाध्यं
सति वा द्वैते शिष्यैर्भाव्यम् ।
अद्वैतात्मनि गुरुशिष्यौ कौ
त्यजरे भेदं तत्त्वमसि ॥ ७ ॥

अज्ञान का भाव होने के कारण सद्गुरु उसका बाध करते हैं, द्वैतभाव में शिष्य भावना करता है; अद्वैत आत्मतत्त्व में गुरू कौन और शिष्य कौन ? इसलिये भेद भाव का त्याग कर, भेद रहित वह तत्त्व तू है।

सत्यद्वैते प्राप्तौ यत्नः
सति वा द्वैते बाधे यत्नः ।

द्वैताद्वैते ते संकल्प-

स्त्यजरे शेषं तत्त्वमसि ॥ ८ ॥

अद्वैत है इसलिये प्राप्ति का यत्न किया जाता है। द्वैत है इसलिये उसके बाध का यत्न करना पड़ता है; द्वैत और अद्वैत तेरा ही संकल्प है, उसको छोड़, शेष तत्त्व तू ही है।

साक्षीत्वं यदि दृश्यं सत्यं

दृश्यासत्वे साक्षी त्वं कः।

उभयाभावे दर्शनमपि किं

तूष्णीं भव रे तत्त्वमसि ॥ ९ ॥

दृश्य सत्य हो तो साक्षित्व घटता है, जब दृश्य ही असत्य है तो तू साक्षी किसका ? दृश्य और साक्षी दोनों के अभाव में दर्शन भी कहां ? इसलिये तूष्णी अर्थात् चुप होजा, वह तत्त्व तू है।

प्रज्ञानामलविग्रहनिजसुख-

जृम्भणमेतन्नेतरथा ।

तस्मान्नैवादेयं हेयं

तूष्णीं भव रे तत्त्वमसि ॥ १० ॥

शुद्ध ज्ञान-स्वरूप के निजानन्द के विस्तार रूप यह संसार है और कुछ नहीं है; इसलिये इसमें त्यागने योग्य या ग्रहण करने योग्य कुछ भी नहीं है; तू तूष्णी होजा, वह तत्त्व तू ही है।

ब्रह्मैवाहं ब्रह्मैवत्वं
ब्रह्मैवैकं नान्यत्किंचित् ।
निश्चित्येत्थं निज समसुख भुक
तूष्णीं भव रे तत्त्वमसि ॥ ११ ॥

मैं ब्रह्म हूँ, तू भी ब्रह्म है, एक ब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार निश्चय करके अपना सामान्य ब्रह्म सुख भोगते हुए तू स्वस्थ रह, वह तू ही है ।

एतत्स्तोत्रं प्रपठता विचार्य गुरुवाक्यतः ।
प्राप्यते ब्रह्मपदवी सत्यं सत्यं न संशयः ॥ १२ ॥

इस स्तोत्र को पढ़कर गुरु वचन से विचार करे तो वह अवश्य ही ब्रह्म पद को प्राप्त करेगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

❀ इति तत्त्वमसि स्तोत्र सम्पूर्णम् ❀
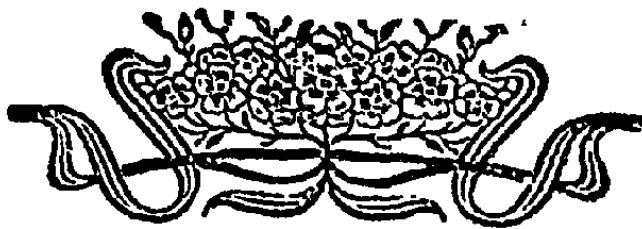
२७—आत्मोपदेश ।

शास्त्रप्रतिष्ठा गुरुवाक्यनिष्ठा
सदात्मदृष्टिः परितोषपुष्टिः ।
चतस्र एता निवसन्ति यत्र
स वर्तमानोऽपि न लिप्यतेऽघैः ॥ १ ॥

शास्त्रों का भली प्रकार ज्ञान हो और गुरु के वाक्य में निष्ठा हो; सदा जगत् को आत्मा रूप से ही देखता हो और अटल संतोष हो, ये चार बातें जिसमें मौजूद हों वह कर्म करता प्रतीत होवे तो भी उसको पाप का स्पर्श नहीं होता ।

उद्देश्यभेदेन विधेयभेदे
शास्त्राण्यनेकानि भवन्ति तावत् ।
तत्रास्ति कैराद्रियमाणमेव
विभावनीयं परमार्थसिद्ध्यै ॥ २ ॥

भिन्न २ उद्देश को लेकर भिन्न २ उपदेश होता है और इसी प्रकार से नाना शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है, इसलिये आस्तिक पुरुष को चाहिये कि अपने परमार्थ की सिद्धिकाल में उन सबकी ओर आदर भाव रखे ।

व्याख्याबलेनाभिनिवेशभाजा
प्रमेयभेदो बहुधाऽभ्युदेति ।
तत्रास्ति मात्सर्यकलंकमुक्ता
मुक्तावदाता धिषणा प्रमाणम् ॥ ३ ॥

अनुराग से युक्त होकर विद्वत्ता के बल व्याख्या करने ही से तत्त्व के ज्ञान में मत भेद उदय होता है। ऐसे समय जिसकी बुद्धि मत्सर के दूषण से रहित, समान और शुद्ध हो वही प्रमाण है।

तर्कोऽप्रतिष्ठो श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ ४ ॥

तर्क से तो पदार्थ का ज्ञान ही नहीं होता श्रुतियों का आपस में विरोध देखा जाता है, कोई एक भी ऐसा मुनि है नहीं, जिसका वचन हम सर्वथा प्रमाण मान सकें और धर्म तत्त्व तो अत्यंत गूढ़ है, ऐसी अवस्था में महापुरुष जिस मार्ग से चलते हों, उसी मार्ग से जाना यही ठीक है।

अनेकशास्त्रार्थविमर्शनेन
तत्तन्महाव्यक्तिनिदर्शनेन ।

त्रैकालिकज्ञानविकस्वरेषु
महाजनत्वं गुरुषूपदिष्टम् ॥ ५ ॥

नाना शास्त्रों को अच्छी तरह से पढ़ लेने से तथा उनमें जिनको महाव्यक्ति बताया है उससे (यह जान पड़ता है कि) तीनों काल का ज्ञान रखने वाले गुरुओं को ही महाजन बतलाया गया है ।

यदेकतत्पुत्रकलत्रमित्र-
विद्वेष्युदासीनचराचरं हि ।
तन्नामरूपाख्यविकारवर्जं
ब्रह्मेति वेदान्तविदो विदन्ति ॥ ६ ॥

जो (परब्रह्म) एक है वही पुत्र, स्त्री, मित्र, शत्रु, उदासीन तथा सब चर और स्थिर जगत् रूप से भासता है वही नाम रूप के विकार से रहित ऐसा ब्रह्म है, ऐसा वेदान्त के जानने वाले कहते हैं ।

तदात्मरत्नं न बहुश्रुतेन
न वा तपोराशिबलेन लभ्यम् ।
प्रकाशते तत्तु गुरूपदिष्ट-
ज्ञानेन जन्मान्तरखण्डकेन ॥ ७ ॥

वह आत्मा रूपी रत्न, विद्वत्ता या पांडित्य प्राप्त करने से नहीं लाभ होता और बहुत तप करके उसके बल से भी आत्म ज्ञान नहीं होता; परन्तु श्रीगुरु के उपदेश से उत्पन्न हुए ज्ञान से वह आत्म तत्त्व प्रकट होता है जिससे फिर जन्म नहीं होता।

जात्या गुणेन क्रियया च सम्यक्
गतप्रमादो विदधद्विधेयम् ।
लभेत यत्नेन सदैव तुष्यन्
यतेत भाग्यार्पित कार्यकायः ॥ ८ ॥

जन्म, गुण और कर्म के अनुसार, प्रमाद न करते हुए विहित कर्म ठीक रे किया करे। जो कुछ प्राप्त हो उसी में सदा संतुष्ट रहकर देह को प्रारब्ध के ऊपर छोड़कर (आत्म प्राप्ति के लिये) यत्न किया करे।

निष्कामचित्तेन किलैकतानः
परामृशन्वस्तु गुरूपदिष्टम् ।
उदारभावो रचयेत सौख्यं
परं परेषामपि किं स्वनिष्ठम् ॥ ९ ॥

निष्काम चित्त से एकाग्रता पूर्वक गुरु के उपदेश के अनुसार उदार बुद्धि वाला पुरुष पर से भी पर ऐसे आत्मा में रहे हुए सुख की भावना करे।

❀ इति आत्मोपदेश सम्पूर्णम् ❀

२८—मुमुक्षु पंचकम् ।

विहायैनःकृत्वा
क्रतुविधुरकर्मादिविहितम्
धियं संशोध्याऽऽप्त्वा
चिदचिद्वलोकादि निकरम् ।
समाराध्याऽऽचार्यं
नतिविमतिशुश्रूषणमुखैः
प्रपन्नः सम्पृच्छेद्-
विविदिषितमात्मीयमखिलम् ॥ १ ॥

पाप रूप निषिद्ध कर्मों को त्यागकर मुमुक्षु पुरुष यज्ञादि विहित कर्मों को बड़े परिश्रम के साथ किया करे और उसके द्वारा बुद्धि की शुद्धता को प्राप्त करे। पश्चात् जड़ चैतन्य का विवेक वैराग्य आदि के समुद्र रूप आचार्य (गुरु) की शुद्ध बुद्धि से विनय पूर्वक सेवा करके आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ जानने की इच्छा हो वह सब उनसे पूछ ले ॥ १ ॥

विचार्याऽऽत्मानं स्वं
श्रुतिगदितसच्चित्सुखमयम्

परंब्रह्मास्मीति
श्रवणमननध्यानकरणैः ।
अहंब्रह्मास्मीति
दृढमवगतिं गम्य परमान्
विबाध्येदं दृश्यं
सकलमलमज्ञानसहितम् ॥ २ ॥

वेदों के कथन के अनुसार सत् चित् आनंदमय ऐसे अपने आत्म स्वरूप का विचार कर, मैं ही परब्रह्म हूं ऐसा श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा दृढ़ निश्चय करले। मल और अज्ञान सहित इस समस्त दृश्य जगत् का बाध करके, 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी अत्यन्त दृढ़ बुद्धि धारण करे ॥ २ ॥

विदित्वेत्थं तत्वं
निखिलनिगमान्तैर्निगदितम्
निहत्वाऽनर्थं वै
सकलमपि जीवातु सहितम् ।
परानन्दो भूत्वा
भवति मुनि भव्यो भुपतिभो

विधेयं कर्त्तव्यं
विविधमपि हेयं हृदिगतम् ॥ ३ ॥

उपनिषदों में प्रतिपादित तत्त्व को जानकर और जन्मादि सकल अनर्थ परंपरा का नाश करके जो पुरुष ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है वह नाना प्रकार के योग्य कर्त्तव्यों को करता है परन्तु हृदय पर उनका असर पड़ने नहीं देता, वह पुरुष इस पृथ्वी पर दिव्य नृपति के समान विराजता है ॥ ३ ॥

मुदो जीवन्मुक्ते-
र्यदि हृदि मनीषास्वविदुषः
तदा वृत्तिं वृत्ते-
रनिशमभिकुर्वन् बहुतिथम् ।
विनाश्यैवं स्थौल्यं
मलिनतरसत्वस्य मनसः
सुसत्वाविर्भावात्
परमसुखसिंधौहि विरमेत् ॥ ४ ॥

आत्म जिज्ञासु को यदि जीवन्मुक्ति के सुख की इच्छा हो तो बहिर्मुख वृत्ति को आत्माकार वृत्ति से बलपूर्वक निरोध करने का चिरकाल तक अभ्यास करे। इस अभ्यास से मलिन अंतःकरण वाले जिज्ञासु के मन की स्थूलता नष्ट होगी और बुद्धि शुद्ध हो जाने पर फिर स्वरूपानन्द सागर में वह सुख पूर्वक निमग्न होगा ॥ ४ ॥

सुभूमिं प्राप्येमां
परमसुखदां पंचममुखाम्
सुखं भुक्त्वा बाह्यं
दृढतरनिजारब्धमपि च ।
विलाप्येदं विश्वं
जगदगमयं हेतुसहितम्
चिदानंदे शुद्धे
भजति च विदेहामृतमयम् ॥ ५ ॥

मोक्षद्वार रूप परम आनन्द कारक ऐसी अवस्था को प्राप्त कर और बलवान् प्रारब्ध से प्राप्त बाहर के सुख भोग कर इस चराचर विश्व का उसके हेतु रूप अविद्यासहित नाश करतेहुए वह पुरुष शुद्धचिदानन्दरूप विदेहकैवल्यको प्राप्त होता है ॥५॥

❀ इति मुमुक्षु पंचक समाप्तम् ❀

२६—भ्रष्टाष्टकम् ।

विश्वं सत्यं मनुते
तनुते कर्माणि लोकसंसिद्ध्यै ।
वाचा मिथ्या जगदिति
जल्पति नो वेत्ति यो महाभ्रष्टः ॥ १ ॥

संसार को सत्य मानता है, इह लोक और परलोक में सुख प्राप्ति की इच्छा से नाना प्रकारके कर्म भी करता है और केवल मुख से बोला करता है कि 'यह जगत् मिथ्या है' परन्तु जगत् को यथार्थता से मिथ्या नहीं समझता वह महाभ्रष्ट है ॥१॥

ब्रह्मैवेदं जल्पति
दोषादोषोत्तमाधमान्पश्यन् ।
नग्नो भूत्वा विचर—
त्यवधूतत्वं प्रदर्शयन्भ्रष्टः ॥ २ ॥

जो भला बुरा मानता है, उच्च नीच भी विचारता है और मुख से 'यह सब ब्रह्म है' ऐसा बकवाद करता है और नंगा डोलकर अपने अवधूत होने का प्रदर्शन करता है, वह भ्रष्ट है ॥ २ ॥

कृत्याकृत्यमशेषं
त्यक्तुमशक्तं श्रुतेरगोचरताम् ।
आत्मनि जल्पन्हास्या—
स्पदतामेत्येष मानवो भ्रष्टः ॥ ३ ॥

समस्त विहित और निषिद्ध कर्मोंका त्याग कर नहीं सकता और उसका समर्थन करने के लिये कहता है कि 'श्रुति ने भी मेरा पार नहीं पाया' ऐसी हास्यास्पद अवस्था को प्राप्त हुआ मनुष्य भ्रष्ट है ॥ ३ ॥

पाशाष्टकसकष्ट-

श्लिष्टतनुर्मृष्टभोजनप्रीतः ।

शिष्टोऽहं मन्वानः

कष्टमहो दुष्ट मानवो भ्रष्टः ॥ ४ ॥

महाकष्टप्रद आठ पाशों से जिसका शरीर जकड़ा हुआ है, जिसको रुचिकर भोजन में अति प्रीति है और जो अपने को प्रतिष्ठित मानता है, बड़े कष्ट की बात है कि ऐसा दुष्ट पुरुष भ्रष्ट है ॥ ४ ॥

आत्मैवेदं जल्पं-

ल्लोकोक्तीरसहमानमेधावी ।

स्तुतिवाक्यानि श्रोतुं

धावंस्तुष्टो न किं भवेद्भ्रष्टः ॥ ५ ॥

बड़ा बुद्धिमान् बनकर यह सब आत्मा ही है, ऐसा कहने लगता है परन्तु किसी की बुरी बात तो सही नहीं जाती और अपनी स्तुति सुनने के लिये दौड़ता फिरता है और सुनकर प्रसन्न भी होता है, ऐसा पुरुष भ्रष्ट नहीं तो क्या है ॥ ५ ॥

यस्मिन्स्वस्य च निष्ठा

तद्धर्मिष्ठानशिष्टगणनायाम् ।

कुर्वन्कर्म हतोऽयं

यद्यपि शिष्टो न किं भवेद्भ्रष्टः ॥ ६ ॥

जिनमें अपनी निष्ठा है ऐसे कर्मों को धर्मिष्ठ मनुष्यों की अवज्ञा करते हुए मरणपर्यंत करता रहता है, ऐसा मूर्ख मनुष्य विद्वान् होते हुए भी भ्रष्ट नहीं तो क्या है ॥ ६ ॥

कर्तृत्व भोक्तृत्वं
मन्वानः स्वात्मनि प्रभौ शंभौ ।
रोदिति हा किं कृतमिति
किं वा भोक्तव्यमित्यसौ भ्रष्टः ॥ ७ ॥

कर्तृत्व और भोक्तृत्व अपने आत्मस्वरूप परमात्मा शिवजी में मानता है और फिर हाय यह क्या किया, हाय कैसा यह भोग ! इस प्रकार चिल्लाता है, रोता है वह भ्रष्ट है ॥ ७ ॥

चिन्मात्रं स्वात्मानं
देहं मन्वान एजते यमतः ।
सर्वात्मानमबुद्ध्वा
ब्रह्मापि स्यादहो किल भ्रष्टः ॥ ८ ॥

अपने शरीर ही को चैतन्य स्वरूप आत्मा समझकर जो यम नियम से च्युत हो जाता है उसका तो कहना ही क्या ? ब्रह्मा भी क्यों नहीं यदि वह सब कुछ आत्मा ही है ऐसा नहीं जाने तो वह भी भ्रष्ट ही है ॥ ८ ॥

भ्रष्टाष्टकमेतत्परम-
विचारयतीह मानवो धन्यः ।

मान्यः स्याल्लोकेषु
भ्रष्टत्वं वेत्ति निजचारित्र्यात् ॥ ९ ॥

इस भ्रष्टाष्टक का जो पुरुष विचार करता है वह धन्य है; क्योंकि जो अपने आचरण का भ्रष्टत्व जान लेता है वह दोनों लोक में मान्य हो जाता है ॥ ९ ॥

❀ इति भ्रष्टाष्टक संपूर्णम् ❀

३०—विश्वेश्वर स्तोत्रम् ।

एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं
सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किंचित् ।
एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे,
तस्मादेकं त्वां प्रपद्ये महेशम् ॥ १ ॥

यह समस्त जगत् एक अद्वितीय ब्रह्म है; सत्य सत्य कहता हूँ यहां पर नानात्व कुछ भी नहीं है। (यह श्रुति है) इससे अद्वितीय एक शिव ही रह जाता है; इसलिये मैं हे महेश ! तेरी शरण हूं ॥ १ ॥

एकः कर्ता त्वं हि सर्वस्य शंभो,
नानारूपेष्वेकरूपोऽप्यरूपः ।

यद्वत्प्रत्यक् पूर्ण एकोऽप्यनेक-
स्तस्मान्नान्यं त्वां विनेशं प्रपद्ये ॥ २ ॥

हे शंभो, तू ही सबका कर्ता है नाना रूपों में तेरा एक ही रूप है इसलिये तू अरूप है। तू प्रत्यक् रूप से पूर्ण और अद्वैत है तो भी अनेक भासता है; इसलिये हे ईश! मैं तेरे बिना और किसी की शरण नहीं जाता ॥ २ ॥

रज्जौ सर्पः शुक्तिकायां च रौप्यं,
पयः पूरस्तन्मृगाख्ये मरीचौ ।
यद्वत्तद्वद्विश्वगेश प्रपंचो,
यस्मिञ्ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम् ॥ ३ ॥

जैसे रज्जु में सर्प, सीपी में रूपा और मरुभूमि में जल भासता है; वैसा यह सब प्रपंच जिसके ज्ञान से मिथ्या होजाता है; ऐसा हे महेश! मैं तेरी शरण हूं ॥ ३ ॥

तोये शैत्यं दाहकत्वं च वह्नौ,
तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः ।
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्ये च सर्पि-
र्यत्तच्छंभो त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये ॥ ४ ॥

जल में शैत्य तू है, अग्नि में दाहक शक्ति तू है, सूर्य का ताप और चन्द्र में आह्लाद तू है। फूल में गंध और दूध में घी तू ही है; इस प्रकार तू सबका सार रूप होने से मैं तेरी शरण हूँ ॥ ४ ॥

शब्दं गृह्णास्यश्रवास्त्वं हि जिघ्रे-
रघ्राणस्त्वं व्यंघ्रिरायासि दूरात् ।
व्यक्षः पश्येस्त्वं रसज्ञोऽप्यजिह्वः
कस्त्वां सम्यग्वेत्त्यतस्त्वां प्रपद्ये ॥ ५ ॥

तेरे कान नहीं है तो भी तू शब्द सुनता है, नाक नहीं है तो भी तू सूंघता है, विना पैर दूर से आता है, विना आंख देखता है और विना जीभ रस का अनुभव करता है। तुझको ठीक २ कौन जान सकता है ? इसलिये अगम्यरूप हे महेश ! मैं तेरी शरण हूं ॥ ५ ॥

नो वेदस्त्वामीश साक्षाद्विवेद
नो वा विष्णुर्नो विधाताऽखिलस्य ।
नो योगीन्द्रा नेन्द्रमुख्याश्च देवा
भक्तो वेद त्वामतस्त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥

हे ईश ! तुझे साक्षात् वेद भी नहीं जानते, न विष्णु और अखिल जगत् को उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा भी जानते हैं, तुझे बड़े २ योगी भी नहीं जानते, न देव या उनके राजा इन्द्र भी तुझे जानते हैं; तुझे केवल भक्त जानते हैं, इसलिये मैं तेरी शरण हूं ॥ ६ ॥

नो ते गोत्रं नेश जन्मापि नाख्या
नो वा रूपं नैव शीलं न देशः ।

इत्थंभूतोऽपीश्वरस्त्वं त्रिलोक्याः

सर्वान्कामान्पूरयेस्तद्भजे त्वाम् ॥ ७ ॥

तेरा कोई गोत्र नहीं है, न जन्म है, न तेरे नाम रूप हैं या शील या देश है; ऐसा होते हुए भी तू तीनों लोकों का ईश्वर है और सब काम को तू पूर्ण करता है इसलिये मैं तेरा भजन करता हूं ॥ ७ ॥

त्वत्तः सर्वं त्वं हि सर्वं स्मरारे

त्वं गौरीशः त्वं च नग्नोऽति शांतः ।

त्वं वै वृद्धस्त्वं युवा त्वं च बाल-

स्तत्त्वं यत्किं नास्त्यतस्त्वां नतोऽस्मि ॥ ८

हे काम के शत्रु, सब कुछ तेरे ही से है और तू ही है, तू पार्वतीपति है और तू नग्न भी है, तू अत्यन्त शान्त है, वृद्ध है तू युवा है, तू बाल है और तू क्या नहीं है ? अर्थात् सब कुछ तू ही है इसलिये मैं तुझे नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥

❀ इति विश्वेश्वर स्तोत्र संपूर्णम् ❀

३१—प्रातःस्मरणम् ।

वसन्त तिलका वृत्तम्

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं

सच्चित्सुखं परमहंस गतिं तुरीयम् ।

यत्स्वप्न जागर सुपुप्तमवैति नित्यं

तद् ब्रह्म निष्कलमहं नच भूत संघः ॥ १ ॥

हृदय में प्रकाशमान सत् चित् और सुख रूप परमहंसों की गति रूप जो तुरीय आत्म तत्त्व है उसका मैं प्रातःकाल में स्मरण करता हूं। जो नित्य है, स्वप्न, जाग्रत और सुपुप्ति को जानता है, वह निष्कल-निरवयव ब्रह्म मैं हूँ, भूतों का समुदाय रूप मैं नहीं हूँ।

प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यं

वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण।

यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचु-

स्तं देव देवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ २ ॥

मन और वाणी के अगम्य को मैं प्रातःकाल में भजता हूँ जिसके अनुग्रह से सब वाणियां प्रतीत होती हैं। वेदों ने जिसको "नेति नेति" वचनों से कहा है उसको देव का देव, अजन्मा, अविनाशी और श्रेष्ठ कहते हैं।

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं

पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम्।

यस्मिन्निदं जगदशेषमशेष मूर्त्तौ

रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ॥ ३ ॥

माया रूपी अन्धकार से परे, सूर्य के समान वर्ण वाले यानी सबको प्रकाश करने वाले, पुरुषोत्तम नाम वाले पूर्ण सनातन पद को मैं प्रातःकाल में नमस्कार करता हूँ; जिस सर्व रूप में सब जगत् रस्सी में सर्प के समान मालूम हो रहा है।

अनुष्टुप।

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं लोकत्रयविभूषणम्।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु स गच्छेत्परमं पदम् ॥ १॥

तीनों लोकों के भूषण रूप इन पवित्र तीन श्लोकों को जो प्रातःकाल में पढ़ता है वह परम पद को प्राप्त होता है।

॥ इति प्रातः स्मरण संपूर्णम् ॥

३२—परमेश्वर स्तुतिसार।

त्वमेकः शुद्धोऽसि त्वयि निगमबाह्यामलमयम्
प्रपंचं पश्यन्ति भ्रमपरवशाः पापनिरताः।
बहिस्तेभ्यः कृत्वा स्वपदशरणं मानय विभो
गजेन्द्रे दृष्टं ते शरणद वदान्यं स्वपददम् ॥ १ ॥

हे भगवन्, तू परम अद्वैत और शुद्ध है वेद के गूढ़ रहस्य को न जानने वाले ऐसे अज्ञानी पुरुष सदा पाप ही में लगे रहते हैं और तुझ परम शुद्ध में मलरूप प्रपंच को भ्रम के कारण

देखते हैं। हे सब के अंतर में रहने वाले! मुझको ऐसे लोगों से बाहर करके तेरे शरण आने की बुद्धि दे। हे रक्षा करने वाले, तेरी भक्तों की रक्षा करने में कितनी उदारता है वह गजेन्द्र की रक्षा में देखने में आई है॥ १॥

न सृष्टेस्ते हानिर्यदि हि कृपयातोऽवसि च माम्
त्वयाऽनेके गुप्ता व्यसनमिति तेऽस्ति श्रुतिपथे।
अतो मामुद्धर्तुं घटय मयि दृष्टिं सुविमलाम्
न रिक्तां मे याच्ञां स्वजनरत कर्तुं भव हरे॥ २॥

यदि कृपा करके तू मेरी रक्षा करेगा तो तेरी सृष्टि का कुछ बिगड़ेगा तो नहीं, तूने पहिले भी अनेकों की रक्षा की है. इतना ही नहीं यह तो तेरी एक आदत सी पड़ गयी है ऐसा मैंने सुना है। इसलिये हे भक्तों पर प्रेम करने वाले! मेरा उद्धार करने के लिये तू मुझमें शुद्ध बुद्धि उत्पन्न कर। हे भगवन्! मेरी यह याचना व्यर्थ न जाय ऐसी कृपा कर॥ २॥

कदाहं भो स्वामिन्नियतमनसा त्वां हृदि भजन्
अभद्रे संसारे ह्यनवरत दुःखेऽतिविरसः।
लभेयं तां शान्तिं परममुनिभिर्या ह्यधिगता
दयां कृत्वा मे त्वं वितर परशान्तिं भवहर॥ ३॥

हे स्वामिन्, दिन रात दुःख देने वाले इस अमंगल संसार में अत्यन्त वैराग्यको प्राप्त होकर मैं मनको अपने वश में रखता

हुआ कब तेरा हृदय में भजन करूंगा ? और जिस परम शांति को उच्चकोटि के मुनियों ने लाभ किया है उसको मैं कब प्राप्त करूंगा ? हे संसार से पार करने वाले, मुझ पर दया करके तू मुझको वह शान्ति प्रदान कर ॥ ३ ॥

विधाता चेद्विश्वं सृजति सृजतां मे शुभकृतिम्
विधुश्चेत्पाता माऽवतु जनिमृतेर्दुःखजलधेः ।
हरः संहर्ता संहरतु मम शोकं सजनकं
यथाहं मुक्तःस्यां किमपि तु यथा ते विदधताम् ॥ ४

यदि तू विधाता है तो विश्व की सृष्टि करते करते मुझमें भी शुभ प्रवृत्ति उत्पन्न कर, यदि तू रक्षण कर्ता है तो तू जन्म मृत्यु रूप दुःखों के समुद्र रूप संसार से मेरी रक्षा कर और यदि तू संहार करने वाला रुद्र है तो तू अविद्या रूप कारण के साथ मेरे शोक का संहार कर, जिस प्रकार मैं मुक्त हो जाऊं ऐसा जो कुछ तुझे ठीक जचे सो तू मेरे लिये कर ॥ ४ ॥

अहं ब्रह्मानंदस्त्वमपि च तदाख्यः सुविदितः
ततोऽहं भिन्नो नो कथमपि भवत्तः श्रुतिदृशा ।
तथा चेदानीं त्वं त्वयि मम विभेदस्य जननीम्
स्वमायां संवार्य प्रभव मम भेदं निरसितुम् ॥ ५

मैं ब्रह्मानंद स्वरूप हूँ और तू भी उसी नाम से वेदमें प्रसिद्ध है, इसलिये श्रुति की दृष्टि से तुझसे मैं किसी प्रकार भी भिन्न

नहीं हूँ। यदि ऐसा ही है तो तुझमें मेरे भेद को उत्पन्न करने वाली जो तेरी माया है उसको समेटने और मेरा भेद भाव दूर करने के लिये अपनी कृपा का विस्तार कर ॥ ५ ॥

कदाहं ते स्वामिन् जनिमृतिमयं दुःख निविडम्
भवं हित्वा सत्येऽनवरतसुखे स्वात्मवपुषि ।
रसे तस्मिन्नित्यं निखिलमुनयो ब्रह्मरसिकाः
रमन्ते यस्मिंस्ते कृतसकलकृत्या यतिवराः ॥ ६॥

हे स्वामिन्, इस जन्म मृत्यु रूप दुःखों के आलय रूप इस संसार का त्याग करके अखंड सुख रूप सत्य आत्म स्वरूप में मैं कब रमण करूंगा जिस ब्रह्म में ही आनंद प्राप्त करने वाले समस्त मुनिगण तथा सब करने का कर चुकने पर यतिलोग रमण करते हैं ? ॥ ६ ॥

पठन्त्येके शास्त्रं निगममपरे तत्परतया
यजन्त्यन्ये त्वां वै ददति च पदार्थांस्तवहितान् ।
अहं तु स्वामिंस्ते शरणमगमं संसृतिभयात्
यथा ते प्रीतिःस्याद्धितकर तथा त्वं कुरु विभो ॥ ७

कोई शास्त्र पढ़ते हैं तो कोई तत्पर होकर वेद पढ़ते हैं और कोई तेरा भजन करते हैं तो कोई तेरे लिये पदार्थों का दान करते हैं। हे स्वामिन्, मैं तो संसार से भयभीत होकर तेरी शरण आया हूँ. अब तुझे जैसा प्रिय लगे वैसा मेरे हित के लिये जो चाहे सो कर ॥ ७ ॥

अहं ज्योतिर्नित्यो गगनमिव तृप्तः सुखमयः
श्रुतेः सिद्धाद्वैतः कथमपि न भिन्नोऽस्मि विधुतः।
इति ज्ञाते तत्त्वे भवति च परः संसृतिलयः
ततस्तत्त्वज्ञानं मयि विघटयेस्त्वं हि कृपया ॥ ८

मैं ज्योतिःस्वरूप हूँ, नित्य हूँ, आकाश के समान व्यापक हूँ, तृप्त और सुख स्वरूप हूँ और श्रुति के अनुसार मैं स्वयं सिद्ध अद्वैत हूं, किसी प्रकार भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ। इस प्रकार तत्त्व का बोध होने पर संसार का लय हो जाता है, इसलिये ऐसा तत्त्वज्ञान मुझमें तू अपनी कृपा से उत्पन्न कर ॥ ८ ॥

अनादौ संसारे जनिमृतिमये दुःखितमना
मुमुक्षुः सन्कश्चिद्व्रजति हि गुरुं ज्ञानपरमम्।
ततो ज्ञात्वा यं वै तुदति न पुनः क्लेशनिवहै-
र्भजेऽहं तं देवं भवति च परो यस्य भजनात् ॥ ९ ॥

इस अनादि संसार में जन्म मृत्यु के दुःख से दुःखित हुआ कोई मुमुक्षु परम ज्ञानवान् ऐसे गुरु का भजन करता है और जिसको जानने पर फिर दुःख समूहों से पीड़ित नहीं होता, जिसके भजन से संसार से पार हो जाता है, उस देव का मैं भजन करता हूं ॥ ९ ॥

विवेको वैराग्यं न च शमदमाद्याः षडपरे
मुमुक्षा मे नास्ति प्रभवति कथं ज्ञानममलम्।

अतः संसाराब्धेस्तरणसरणिं मामुपदिशन्
स्वबुद्धिं श्रौतीं मे वितर भगवंस्त्वं हि कृपया ॥१०॥

मुझमें न विवेक है, न वैराग्य और न शमदम आदि षट् संपत्ति और मुमुक्षुता भी है फिर मुझमें विशुद्ध ज्ञान प्रकट कहां से हो ? इसलिये समुद्र से पार ले जाने वाले मार्ग का मुझे उपदेश देते हुए हे भगवन् ! जैसा श्रुति बताती है वैसी आपके स्वरूप वाली बुद्धि कृपा करके मुझमें उत्पन्न करो ॥ १०॥

कदाहं भो स्वामिन्निगममतिवेद्यं शिवमयं
चिदानंदं नित्यं श्रुतिहृतपरिच्छेद निवहम् ।
त्वमर्थाभिन्नं त्वामभिरम इहात्मन्यविरतं
मनीषामेवं मे सफलय वदान्य स्वकृपया ॥ ११ ॥

हे स्वामिन्, वेदानुसारिणी बुद्धि से जिस शिव रूप, चिदानंदमय, नित्य, श्रुति के उपदेश से जिससे परिच्छेद भाव स्वल्प भी नहीं रहा ऐसे तेरे स्वरूप से अभिन्न ऐसे तुझमें मैं कब रमण करूंगा ? इस संसार में मेरी यही एक इच्छा है; हे उदारदाता, अपनी कृपा द्वारा इसको सफल करो ॥ ११ ॥

यदर्थं सर्वं वै प्रियमसुधनादि प्रभवति
स्वयं नान्यार्थो हि प्रिय इति च वेदे प्रविदितम् ।
स आत्मा सर्वेषां जनिमृतिमतां वेदगदित-
स्ततोऽहं तं वेद्यं सततममलं यामि शरणम् ॥ १२ ॥

जिसके लिये ये सब धन और प्राण भी प्रिय है स्वयं कोई भी अन्य अर्थ प्रिय नहीं है ऐसा वेद से मैंने जान लिया है वह आत्मा ही जन्म मृत्युशाली सब जीवों के लिये वेद यानी जानने योग्य है ऐसा वेद में कहा है इसलिये मैं भी उस शुद्ध आत्मा के अखंड भाव से शरण जाता हूं ॥ १२ ॥

मयात्यक्तं सर्वं कथमपि भवेत्स्वात्मनि मति-
स्त्वदीया माया मां प्रति तु विपरीतं कृतवती ।
ततोऽहं किं कुर्यां नहि मम मतिः क्वापि चरति
दयां कृत्वानाथ स्वपदशरणं देहि शिवदम् ॥ १३

मैंने सब किसी का इसलिये त्याग किया कि इससे आत्माभिमुख बुद्धि हो जायगी, परन्तु तेरी माया मेरे लिये सब विपरीत ही कर देती है इसलिये अब मैं क्या करूं ? मेरी मति अब कुछ भी काम नहीं देती इसलिये हे नाथ, दया करके सदा मंगल करने वाले आपके चरणों की मुझे शरण दीजिये ॥ १३ ॥

नगा दैत्याः कीशा भवजलधिपारं हि गमिता-
स्त्वया चान्ये स्वामिन्किमिति समयेऽस्मिञ्छयितवां
न हेलांत्वं कुर्यास्त्वयि निहित सर्वो मयि विभो
नहि त्वाहं हित्वा कमपि शरणं चान्यमगमम् ॥१४॥

हे स्वामिन् ! तूने पर्वत, राक्षस, बंदर आदि सब किसी को भवसागर से पार उतार दिया, अब इस समय क्या तुझे नींद

आ गई है ? मैं तुझको पुकारता इसलिये नहीं कि तू सब में निवास करता है इसलिये मुझमें भी तेरा वास है; मैं तुझको छोड़कर अन्य किसी के भी शरण नहीं गया ॥ १४ ॥

अनन्ताद्या विज्ञानगुणजलधेस्तेऽन्तमगम-
न्नतः पारं यायात्तव गुणगणानां कथमयम् ।
गृणान्यावद्धि त्वा जनिमृतिहरं याति परमां
गतिं योगिप्राप्यामिति मनसि बुद्ध्वाऽहमनवं ॥१५

शेष आदि परमज्ञानी भी तेरे गुणों के समुद्र का अन्त न पा सके फिर मैं तेरे गुण समूहों का किस प्रकार पार पा सकता हूँ ? इसलिये जन्म मृत्यु को दूर करने वाले तेरी स्तुति करने से योगियों को प्राप्त होने वाली गति प्राप्त होती है ऐसा समझकर मैं मन ही मन तुझको प्रणाम करता हूं ॥ १५ ॥

❀ इति परमेश्वर स्तुतिसार संपूर्णम् ❀

वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

महा वाक्य।

उपनिषदों का महा वाक्य अपरोक्ष बोध का हेतु है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। मूल्य १)

उपनिषत [५१]

यह मुख्य दशोपनिषत को छोड़कर ५१ उपनिषत् का संग्रह है। सुन्दर छपाई के ५५० के पृष्ठ की कपड़े की जिल्द का मूल्य केवल २॥)

ब्रह्म सूत्र।

शांकर भाष्य भाषानुवाद संपूर्ण दो भाग में है। आशा है हिन्दी भाषा भाषी इससे पूरा लाभ उठावेंगे। मूल्य कपड़े की पक्की जिल्द प्रत्येक का रु० ३)

पंच कोश विवेक।

पंच कोश का विवेक ही आत्म अनात्म विवेक है। मूल्य १)

सदाचार।

श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटे पुस्तकों में इसी का भी नाम है इससे मुमुक्षुओंको सत्य आचार का स्पष्ट बोध होता है। मूल्य ।)

काया पलट नाटक।

ज्ञान से काया बदल जाती है, प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।)

उपासना।

इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। मूल्य ॥)